षष्ठोऽध्यायः

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—निचृत्पङ्क्तिः[उ], आसुर्युष्णिक्[क], भुरिगार्ष्युष्णिक्[र]। **स्वरः**—पञ्चमः[उ], ऋषभः[क,र]॥

पितृ—सदन

[उ]देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
आददे नार्यसीदमहꣳ रक्षसां ग्रीवाऽअपि कृन्तामि।
[क]यवोऽसि यवयास्मद् द्वेषो यवयारातीर् [र]दिवे त्वाऽन्तरिक्षाय
त्वा पृथिव्यै त्वा शुन्धन्ताँल्लोकाः पितृषदनाः पितृषदनमसि॥१॥

१. गत अध्याय की समाप्ति 'अगस्त्य ऋषि' के 'सहस्रवल्शः विरोहण' (Manifold evolution) के साथ हुई थी। इस अध्याय का प्रारम्भ उस विरोहण के रहस्य के प्रतिपादन से होता है। अगस्त्य इस सर्वतोमुखी विकास को इसलिए कर पाये कि उन्होंने संसार की प्रत्येक वस्तु का प्रयोग बड़ा ठीक किया। इस प्रयोग में इनके तीन नियम रहे—(क) हे पदार्थ! **त्वा**=तुझे **सवितुः देवस्य प्रसवे**=उत्पादक व प्रेरक देव की प्रेरणा के अनुसार, अर्थात् ऋतरूप में—न अधिक न कम—**आददे**=ग्रहण करता हूँ। (ख) **अश्विनोः बाहुभ्याम्**=प्राणापान के प्रयत्न से ग्रहण करता हूँ—बिना मूल्य के नहीं लेता। (ग) **पूष्णः हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से ग्रहण करता हूँ, अर्थात् केवल पोषण के दृष्टिकोण से ग्रहण करता हूँ, इसीलिए हे पदार्थ! तू **नारिः**=मुझ नर का हित करनेवाला **असि**=है। २. इस प्रकार प्रत्येक वस्तु का ठीक प्रयोग करता हुआ मैं सहस्रवल्शः विरोहण वा अनेकविध विकासवाला बनता हूँ और **इदम् अहम्**=यह मैं **रक्षसाम्**=राक्षसों की ग्रीवा को **अपिकृन्तामि**=काट देता हूँ। सब रोगों व बुरी वृत्तियों को विच्छिन्न कर देता हूँ। ३. हे प्रभो! **यवः असि**=आप सब बुराइयों को हमसे दूर करनेवाले हैं। **अस्मत्**=हमसे **द्वेषः**=द्वेष को **यवय**= पृथक् कीजिए। हे प्रभो! हम **त्वा**=आपके समीप आते हैं **दिवे**=मस्तिष्करूप द्युलोक के विकास के लिए **त्वा**=आपके समीप आते हैं **अन्तरिक्षाय**=हृदयान्तरिक्ष के नैर्मल्य के लिए **त्वा**=हम आपके पास आते हैं, **पृथिव्यै**=शरीररूप पृथिवी के विस्तार के लिए। ४. आपकी कृपा से **लोकाः**=हमारे लोक (मस्तिष्क=द्यौः, मन=अन्तरिक्ष, शरीर=पृथिवी) **शुन्धन्ताम्**=शुद्ध हों। **पितृषदनाः**=हमारे घर ज्ञानियों के सदन बनें, उनमें ज्ञानी पुरुषों का आना-जाना बना रहे। **पितृषदनम् असि**=हे प्रभो! आप ज्ञानियों में ही निवास करनेवाले हैं। मैं भी ज्ञानियों के सम्पर्क में आकर ज्ञानी बनूँ और अपने को आपका निवासस्थान बना पाऊँ।

भावार्थ—हम प्रत्येक पदार्थ का प्रयोग ठीक करें जिससे नीरोग व निर्मल बनें। द्वेष व अदान से ऊपर उठें। त्रिविध उन्नति करके, ज्ञानियों के सम्पर्क में ज्ञानी बनकर प्रभु का निवासस्थान बनें।

ऋषिः—शाकल्यः। देवता—सविता। छन्दः—निचृद्गायत्री[क], स्वराट्पङ्क्तिः[ख]। स्वरः—षड्जः[क], पञ्चमः[ख]॥

शकलीकरण

[क]अग्रेणीरसि स्वावेशऽउन्नेतॄणामेतस्य वित्तादधि त्वा स्थास्यति [ख]देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु सुपिप्पलाभ्यस्त्वौषधीभ्यः। द्यामग्रेणास्पृक्षऽआन्तरिक्षं मध्येनाप्राः पृथिवीमुपरेणादृꣳहीः॥२॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति 'प्रभु का निवासस्थान बनने' से हुई है। यह अपने को प्रभु का निवासस्थान बनाकर निरन्तर उन्नति करता है। **अग्रेणीः असि**=तू अपने को आगे ले-चलता है। **स्वावेशः**=(शोभनं धर्ममाविशति) उत्तम धर्म को अपने में स्थापित करता है। **उन्नेतॄणाम्**=उत्कर्ष प्राप्त करानेवालों के **एतस्य वित्तात्**=इस उन्नति के मार्ग को तू जान। उन्नति के मार्ग पर चलने पर **सविता देवः**=वह प्रेरक देव **त्वा** =तेरा **अधिस्थास्यति**=पथ-प्रदर्शन करेगा। प्रभु तेरे अधिष्ठाता होंगे। वे प्रभु तुझे **मध्वा**=माधुर्य से अलंकृत करेंगे। माधुर्य से अलंकृत करने के लिए वे **त्वा**=तुझे **सुपिप्पलाभ्यः**=उत्तम फलवाली **ओषधीभ्यः**= ओषधि-वनस्पतियों के लिए **अनक्तु**=(अञ्च् गम) प्राप्त कराएँ, अर्थात् तू अपने जीवन में इन वनस्पतियों का ही प्रयोग कर, मांस का प्रयोग तुझे क्रूर स्वभाव का बनाएगा। २. इस प्रकार वनस्पति भोजन करता हुआ तू **अग्रेण**=(पुरस्तात्) सबसे पहले तो **द्याम्**=विद्या के प्रकाश को **अस्पृक्षः**=स्पर्श करनेवाला बन, अर्थात् ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त कर। इस ज्ञान की प्राप्ति को ही तू अपना प्रथम कर्त्तव्य समझ। ३. **अन्तरिक्षम्**=अपने हृदयान्तरिक्ष का **मध्येन**=सदा मध्य मार्ग पर चलने से **आप्राः**=समन्तात् पूरण कर। सीमाओं से बचता हुआ, अति का वर्जन करता हुआ तू सदा मध्यमार्ग से चल। यह मध्यमार्ग ही हृदय की कमी को दूर करनेवाला है। **'अति सर्वत्र वर्जयेत्'** यह तेरा नियम हो। ४. **उपरेण** (उत्कृष्ट नियमेन—द०)=उत्कृष्ट नियम से अथवा (उपर nearer) सदा प्रभु के समीप निवास से **पृथिवीम्**=इस शरीररूप पृथिवी को **अदृंहीः**=तूने दृढ़ बनाया है। प्रभु से दूर हुए, नियम भूले और शरीर रोगों का घर बना। शरीर के स्वास्थ्य के लिए **''हिताशी स्यात् मिताशी स्यात् कालभोजी जितेन्द्रियः''** इस नियम को अपनानेवाला व्यक्ति रोगों को खण्डशः करके नष्ट कर देता है—'शकलयति इति शाकल्यः' टुकड़े-टुकड़े कर देता है, अतः 'शाकल्य' कहलाता है। रोगों को ही नहीं, वासनाओं व अज्ञानों को भी तो यह विदीर्ण करता है, अतः इसका 'शाकल्य' नाम यथार्थ है।

भावार्थ—हम आगे बढ़ें, प्रभु के अधिष्ठातृत्व में जीवन को मधुर बनाएँ। ज्ञान के द्वारा अज्ञान का खण्डन करें, मध्यमार्ग पर चलने से वासनाओं का विनाश कर दें, और उत्कृष्ट नियम से रोगों को भगा दें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—विष्णुः। छन्दः—आर्च्युष्णिक्[ङ], भुरिगार्च्युष्णिक्[क], निचृत्प्राजापत्याबृहती[ख]। स्वरः—ऋषभः[ङ,क], मध्यमः[ख]॥

प्रभु के परमपद का दीपन

[ङ]या ते धामान्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गाऽअयासः। [क]अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमवभारि भूरि। [ख]ब्रह्मवनिं त्वा क्षत्रवनिं रायस्पोषवनिं पर्यूहामि। ब्रह्म दृꣳह क्षत्रं दृꣳहायुर्दृꣳह प्रजां दृꣳह॥३॥

१. पिछले मन्त्र में बुराइयों के शकलीकरण—नष्ट करने का उल्लेख है। उन बुराइयों का विदारण करके 'दीर्घतमा'=तमोगुण का विदारण करनेवाला प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि कहता है कि हे प्रभो! **या ते धामानि**=जो आपके तेज हैं, हम उन्हें **गमध्यै**=प्राप्त करना **उश्मसि**=चाहते हैं, **यत्र**=जिन तेजों में **भूरिशृङ्गाः**=(भूरीणि शृङ्गाणि प्रकशा यासु ताः—द०, शृङ्गाणि इति ज्वलतोनामसु—नि० १।१७) अत्यन्त देदीप्यमान **गावः**=रश्मियाँ **अयासः**=प्राप्त हैं, अर्थात् हम आपके उन तेजों को प्राप्त करना चाहते हैं जो तेज ज्ञान की रश्मियों के साथ निवास करते हैं। २. **अत्र**=जहाँ ज्ञान और तेज का समन्वय होता है उस स्थान में, उस जीव में **अह**=निश्चय से **उरुगायस्य**=विशाल गतिवाले व विशाल यशोगानवाले **विष्णोः**=व्यापक प्रभु का **तत् परमं पदम्**=वह उत्कृष्ट पद **भूरि**=खूब **अवभाति**=चमकता है। प्रभु का दर्शन ज्ञान और तेज का समन्वय होने पर ही होता है। ३. प्रभु दीर्घतमा से कहते हैं कि **ब्रह्मवनि**=ज्ञान का विजय करनेवाले **त्वा**=तुझे, **क्षत्रवनि त्वा**=बल का विजय करनेवाले तुझे और **रायस्पोषवनि त्वा**=धन के पोषण के विजेता तुझे **पर्यूहामि**=मैं अपने समीप प्राप्त कराता हूँ। ४. तू अपने जीवन में **ब्रह्म दृंह**=ज्ञान को दृढ़ कर, **क्षत्रं दृंह**=बल को बढ़ा, **आयुः दृंह**=तू अपने जीवन को दृढ़ बना, **प्रजां दृंह**=तू अपने सन्तानों को भी दृढ़ बना। तेरा ज्ञान, बल तो दृढ़ हो ही, तेरा सारा जीवन भी दृढ़ हो। तू अपने मार्ग से विचलित होनेवाला न हो। तेरी सन्तानें भी दृढ़ता से जीवन-पथ का आक्रमण करनेवाली हों। सन्तानों के कारण तेरा जीवन उन्नति-पथ पर चलने से विहत न हो जाए।

भावार्थ—हमारे जीवन प्रभु के तेजों व ज्ञानों को अपनाकर प्रभु के परम पद को दीप्त करनेवाले हों। हम ज्ञान और बल के साथ धन भी प्राप्त करें। अपने ज्ञान, बल, जीवन व सन्तानों को दृढ़ बनाएँ।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—निचृदार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

युज्यः सखा

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा॥४॥

१. अपने जीवन के मार्ग को निश्चित करने के लिए गत मन्त्र के 'आयुर्दृंह' आदेश के अनुसार अपने जीवन को दृढ़ बनाने के लिए समझदार व्यक्ति प्रभु के कर्मों का विचार करता है और उन्हीं कर्मों को स्वयं करने का व्रत लेता है। यही व्यक्ति मेधातिथि=(मेधया अतति) समझदारी से चलनेवाला है। यह कहता है कि २. **विष्णोः**=उस व्यापक प्रभु के **कर्माणि**=कर्मों को **पश्यत**=देखो, **यतः**=जिन कर्मों के देखने से ही यह द्रष्टा **व्रतानि**=अपने जीवन-नियमों को **पस्पशे**=(बध्नाति) अपने में बाँधता है, अर्थात् अपने जीवन को भी उन्हीं कर्मों में लगाने का ध्यान करता है। ३. यह **युज्यः**=(युनक्ति सदाचारेण) प्रभु के कर्मों का ध्यान करके अपने को उन कर्मों से जोड़नेवाला सदाचारी ही **इन्द्रस्य**=उस सर्वशक्तिमान् परमैश्वर्यशाली प्रभु का **सखा**=मित्र बनता है।

भावार्थ—हम प्रभु के कर्मों को देखें। उन्हीं व्रतों से अपने को बाँधें और व्रतों से अपने को जोड़नेवाले हम प्रभु के मित्र बनें।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—निचृदार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

प्रभु-दर्शन

तद्विष्णोः परमं पदꣳसदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्॥५॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जो अपने को प्रभु के समान न्याय्य कर्मों से जोड़ने का प्रयत्न करता है, वही वस्तुतः प्रभु का सच्चा स्तोता है। इसी प्रकार प्रभुभक्त वही है जो प्रभु के पथ पर चले। विष्णु-भजन तो विष्णु बनकर ही होता है। ये **सूरयः**=(सूरिः स्तोता—नि० ३।१६) वेदज्ञ स्तोता **विष्णोः**=उस व्यापक प्रभु के **तत् परम् पदम्**=उस सर्वोत्कृष्ट पद को **सदा**=हमेशा **पश्यन्ति**=उसी प्रकार देखते हैं **इव**=जैसे **दिवि**=द्युलोक में **आततं चक्षुः**=इस फैली हुई (व्याप्तिमत्) सूर्यरूप आँख को सामान्य लोग देखा करते हैं। २. जैसे यह सूर्य सबके लिए दृश्य है, ठीक इसी प्रकार सूरि को—सच्चे स्तोता को—प्रभु भी दृश्य होते हैं। प्रभु-जैसा बनकर ये प्रभु के अत्यन्त समीप हो जाते हैं।

भावार्थ—हम सूरि (वेदवित्), ज्ञानी स्तोता बनें और प्रभु को आत्मतुल्य प्रिय हों। उस समय हम प्रभु का उतना ही स्पष्ट दर्शन कर रहे होंगे जितना कि सूर्य का।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—आर्ष्युष्णिक्[क], भुरिक्साम्नीबृहती[ख]। **स्वरः**—ऋषभः[क], मध्यमः[ख]॥

प्रभु-द्रष्टा का आश्रम

[क]परिवीरसि परि त्वा दैवीर्विशो व्ययन्तां परीमं यजमानꣳरायो मनुष्याणाम्।
[ख]दिवः सूनुरस्येष ते पृथिव्याँल्लोकऽआरण्यस्ते पशुः॥६॥

गत मन्त्र के प्रभु-दर्शन करनेवाले व्यक्ति के जीवन का प्रस्तुत मन्त्र में चित्रण करते हुए कहते हैं कि हे दीर्घतमाः=प्रभु-दर्शन से सब तमस् को दूर भगानेवाले उपासक! १. **परिवीः असि**=(परितः सर्वाविद्या व्याप्नोति) तू सम्पूर्ण विद्याओं का अपने में व्यापन करनेवाला है। वस्तुतः ज्ञान को ही तू अपना भोजन बनाता है। तू ब्रह्म (ज्ञान का) चारी (चरण=भक्षण करनेवाला) है। २. **त्वा परि**=तुझे चारों ओर से **दैवीः विशः**=दिव्य गुणोंवाली प्रजाएँ **व्ययन्ताम्**=प्राप्त हों। तू उत्तम वृत्तिवाले लोगों का केन्द्र बन जाए। तेरा निवासस्थान दिव्य प्रजाओं के आश्रम के रूप में परिवर्तित हो जाए। ३. **इमम् यजमानम्**=इस यज्ञ के स्वभाववाले तुझको **मनुष्याणाम् रायः**=मनुष्यों के धन **व्ययन्ताम्**=प्राप्त हों। यह आश्रम उत्तम यज्ञों का केन्द्रस्थान बने और उन यज्ञों की पूर्ति के लिए लोग उदारता से धन देनेवाले हों। ४. ऐसे यज्ञों के अवसरों पर यह प्रभु का सच्चा स्तोता **दिवः सूनुः असि**=प्रकाश का प्रेरक होता है। वह अपने प्रवचनों से उपस्थित जनता के अन्दर ज्ञान का प्रचार करता है। ५. वह ऐसा प्रेम की वृत्तिवाला होता है कि **एषः पृथिव्यां लोकः**=ये पृथिवी पर विचरनेवाले लोग तो **ते**=तेरे होते ही हैं, **आरण्यः पशुः**=जङ्गल के सिंह आदि पशु भी **ते**=तेरे बन जाते हैं। इस प्रभु-द्रष्टा के आश्रम में सब लोक व प्राणी वैरभाव को छोड़कर प्रेमभाव से रहनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम ज्ञानी बनें, उत्तम लोगों के केन्द्र बन पाएँ, हमारा निवासस्थान यज्ञवेदि बन जाए। हम ज्ञान का प्रसार करनेवाले हों। सब लोकों व हिंस्र-पशुओं को भी अपना प्रेम दे सकें।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—त्वष्टा। **छन्दः**—निचृदार्षीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

देव-उशिक्-वह्नि

उपावीरस्युप देवान्दैवीर्विशः प्रागुरुशिजो वह्नितमान्।
देव त्वष्टर्वसु रम हव्या ते स्वदन्ताम्॥७॥

पिछले मन्त्र का प्रभु-द्रष्टा अपने आश्रम में क्या करता है? इस विषय को प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार कहते हैं कि १. **उपावीः असि**=तू अपने को सदा प्रभु के समीप रखता

हुआ अपना अवन (रक्षण) करनेवाला है। वस्तुतः मनुष्य प्रभु से दूर हुआ और किसी-न-किसी वासना का शिकार बना। वासनाओं से बचने के लिए प्रभु के समीप रहना आवश्यक है। २. इस प्रकार के **देवान्**=दिव्य वृत्तिवाले **उशिजः**=मेधावी **वह्नितमान्** =औरों को भी उच्च स्थान पर प्राप्त करनेवाले लोगों के ही **उप**=समीप **दैवीः विशः**=दिव्य वृत्तिवाली प्रजाएँ **प्रागुः**=प्रकर्षेण प्राप्त होती हैं। जिसे औरों का निर्माण करना है, उसे पहले अपना निर्माण तो अवश्य करना ही चाहिए। स्वयं देव बने बिना वह औरों को देव न बना पाएगा। स्वयं ज्ञानी होगा तभी औरों को ज्ञान देगा। अपने को उच्च स्थान में प्राप्त कराके ही यह दूसरों को उस स्थान पर ले-चल सकता है, अतः इसका 'देव, उशिक् व वह्नि' बनना अत्यन्त आवश्यक है। ३. **देव**=हे दिव्य गुणोंवाले! **त्वष्टः**=देवों का निर्माण करनेवाले (देवशिल्पी) अथवा औरों के दुःखों का छेदन करनेवाले **वसु**=(वसु=वसूनि) निवास के लिए आवश्यक धन में ही तू **रम**=आनन्द ले। अधिक धन पतन का कारण बनता है। ४. **हव्या**=हव्य पदार्थ-यज्ञिय सात्त्विक भोजन **ते**=तुझे **स्वदन्ताम्**=स्वाद देनेवाले हों, रुचिकर हों। इस आहार की शुद्धि पर अन्तःकरण की शुद्धि निर्भर है। ५. आहार को शुद्ध करके तथा धन में आसक्त न होकर तू अपनी बुद्धि को स्वस्थ रख सकेगा और बुद्धि का वर्धन करनेवाला अपने 'मेधातिथि' नाम को सार्थक करेगा।

भावार्थ-जो व्यक्ति औरों का भला करना चाहता है उसे स्वयं 'देव, उशिक् (मेधावी) व वह्नि (अपने को ऊँचे स्थान पर ले-जानेवाला)' बनना चाहिए। वह निवास के लिए आवश्यक धन से अधिक धन न चाहे और सात्त्विक भोजनों को ही करे।

ऋषिः-दीर्घतमाः। **देवता**-बृहस्पतिः। **छन्दः**-प्राजापत्यानुष्टुप् [क], भुरिक्प्राजापत्याबृहती [ख]। **स्वरः**-गान्धारः [क], मध्यमः [ख]॥

बृहस्पति

[क]रेवती रमध्वं बृहस्पते धारया वसूनि।

[ख]ऋतस्य त्वा देवहविः पाशेन प्रतिमुञ्चामि धर्षा मानुषः॥८॥

१. पिछले मन्त्र के आश्रम-प्रकरण को ही कहते हुए प्रार्थना करते हैं कि १. **रेवतीः**=हे गौवो! तुम इस आश्रम में **रमध्वम्**=रमण करो। आश्रम की उत्तमता के लिए वहाँ गौवों का होना नितान्त आवश्यक है। (वाग् वै रेवती-श० ३।८।१।१२) गौवों के होने पर वहाँ ज्ञान की वाणियाँ भी रमण करती हैं। इतना ही नहीं (रेवत्यः सर्वाः देवताः-ऐ० २।१६) गौवों के कारण आश्रम में सब देवों का वास होता है। लोगों की वृत्तियाँ दिव्य बनती हैं। २. हे **बृहस्पते**=ब्रह्मणस्पते=वेदवाणी के पति आचार्य! आप आश्रमवासियों में **वसूनि धारय**=उत्तम निवास के कारणभूत ज्ञानों को धारण कीजिए (वसन्ति सुखेन यत्र तद्विज्ञानम् वसु-द०)। आचार्य को इस प्रकार ज्ञान का प्रसार करना है कि उस ज्ञान के प्रसार से लोगों का ऐहिक जीवन उत्तम बने। वे इस संसार को सचमुच निवास के योग्य बना पाएँ। ३. यह बृहस्पति **देवहविः**=देवताओं के लिए देकर यज्ञशेष को खानेवाला है। प्रभु वेद द्वारा इस बृहस्पति को कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **ऋतस्य पाशेन**=ऋत के पाश से **प्रतिमुञ्चामि**=बाँधता हूँ। तेरा जीवन बहुत ही नियमित हो, ऋत से जकड़ा हुआ हो, क्योंकि आश्रम में सभी ने इसी के अनुकरण में अपना जीवन चलाना है। ४. **धर्षा**=तू वासनाओं का धर्षण करनेवाला बन। कोई भी वासना व प्रलोभन तुझे ऋत के मार्ग से विचलित न करे। ५. **मानुषः**=तू मानवमात्र का हित करनेवाला हो। ६. इस प्रकार यह

बृहस्पति अपने जीवन से तम को दूर भगाकर औरों के तम के भी विदारण में लगा है, अतः 'दीर्घतमाः' इस सार्थक नामवाला है।

भावार्थ—हम अपने जीवन को ऋत के पाश से प्रतिबद्ध करें। हम वासनाओं का धर्षण करनेवाले हों और हमारा प्रत्येक कर्म मानवहित-साधक हो।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—सविता, अश्विनौ, पूषा। **छन्दः**—प्राजापत्याबृहती[क], पङ्क्तिः[र] याजुषीत्रिष्टुप्[३]। **स्वरः**—मध्यमः[क], पञ्चम[र], धैवतः[३]॥

ऋत का पाश

[क]देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। [र]अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं नियुनज्मि। अद्भ्यस्त्वौषधीभ्योऽनु त्वा माता मन्यतामनु पितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः। अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि॥९॥

१. गत मन्त्र में ऋत के पाश से अपने को बाँधने का उल्लेख है। प्रस्तुत मन्त्र में उस ऋत के पाश का वर्णन है। **देवस्य सवितुः प्रसवे**=सवितादेव की अनुज्ञा में मैं **त्वा**=तुझे ग्रहण करता हूँ। मैं प्रत्येक पदार्थ का स्वीकार प्रभु के आदेश के अनुसार करता हूँ। २. **अश्विनोः बाहुभ्याम्**=प्राणापान के प्रयत्न से मैं वस्तुओं का ग्रहण करता हूँ। ३. **पूष्णः हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से, अर्थात् पोषण के दृष्टिकोण से ही मैं प्रत्येक वस्तु को लेता हूँ। ४. इस प्रकार इस ऋत के पाश से अपने को बाँधने पर व्यक्ति में अग्नि व सोम दोनों तत्त्वों का सुन्दर विकास होता है। उसमें तेजस्विता व उत्साह (अग्नि) होते हैं तो उसका जीवन शान्ति (सोम) से भी अलंकृत होता है। प्रभु कहते हैं कि **अग्नीषोमाभ्याम्**=तेजस्विता व शान्ति से **जुष्टम्**=प्रीतिपूर्वक सेवित तुझे मैं **नियुनज्मि**=अपने प्रतिनिधि के रूप से नियुक्त करता हूँ। लोकहित के कार्यों को करने में तू मेरा निमित्त बनता है। ५. **अद्भ्यः त्वा ओषधीभ्यः**=मैं तुझे जलों व ओषधियों के लिए नियुक्त करता हूँ, अर्थात् पीने के लिए पानी और खाने के लिए वनस्पतियों का ही तू प्रयोग करता है। ६. इस सात्त्विक मार्ग पर चलने के लिए **त्वा**=तुझे **माता**=माता **अनुमन्यताम्**=अनुमति दे **पिता अनु (मन्यताम्)**=पिता भी अनुमति दे, **सगर्भ्यः भ्राता अनु (मन्यताम्)**=सहोदर भाई अनुमति दे **सयूथ्यः सखा**=इकट्ठे मिल-जुलकर खेलनेवाले अपनी पार्टी के साथी **अनु (मन्यताम्)**=अनुमति दें, अर्थात् इस मार्ग पर चलने में ये सब व्यक्ति तेरे सहायक हों। ७. इस प्रकार अनुकूल वातावरण में **अग्नीषोमाभ्याम्**=तेजस्विता व शान्ति से **जुष्टम्**=सेवित **त्वा**=तुझे **प्रोक्षामि**=मैं ज्ञान से सिक्त करता हूँ अथवा लोकहित के कार्य के लिए अभिषिक्त करता हूँ।

भावार्थ—हम अपने को ऋत के पाश से बाँधकर तेजस्वी व शान्त बनें। जल व वनस्पति ही हमारे सेव्य पदार्थ हों। हम प्रभु के सन्देशवाहक बनें।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—प्राजापत्याबृहती[क], विराडार्षीबृहती[र]। **स्वरः**—मध्यमः॥

अपां पेरु

[क]अपां पेरुरस्यापो देवीः स्वदन्तु स्वात्तं चित्सदेवहविः।

[र]सं ते प्राणो वातेन गच्छताꣳ समङ्गानि यजत्रैः सं यज्ञपतिराशिषा॥१०॥

१. पिछले मन्त्र में यह भावना थी कि हम अपने को ऋत के पाश से बाँधते हैं—तेजस्वी व शान्त बनते हैं। ऋत के पाश से अपने को बाँधनेवाला ही प्रस्तुत मन्त्र के

अनुसार **अपां पेरुः असि**=वीर्य का रक्षक है (आपः रेतो भूत्वा०)। 'आपः' शब्द रेतस् का वाचक है। जीवन के व्रती होने पर और भोजन के सात्त्विक होने पर शरीर में सोम का धारण सुगम होता है। यह 'मेधातिथि'=समझदारी से चलनेवाला व्यक्ति सबसे अधिक महत्त्व इसी बात को देता है कि वह 'अपां पेरु'—वीर्य का रक्षक हो। २. इसी उद्देश्य से प्रभु मेधातिथि से कहते हैं कि **आपः देवीः स्वदन्तु**=ये दिव्य गुणवाले जल तेरे लिए स्वादिष्ट हों। **सत्**=उत्तम **देवहविः**=देवों द्वारा खाये जानेवाले हव्य पदार्थ **चित्**=ही **स्वात्तम्**= (आस्वादितम्—म०) तेरे से स्वाद लिये जाएँ, अर्थात् तू सात्त्विक वानस्पतिक भोजनों को ही खानेवाला बन। ३. इस प्रकार जलों व वानस्पतिक भोजनों के सेवन से **ते प्राणः**=तेरा यह प्राण **वातेन**=वायु से **सङ्गच्छताम्**= सङ्गत हो। 'वातः प्राणो भूत्वा०' वायु ही प्राण का रूप धारण करके शरीर में रहती है। तेरे शरीरस्थ प्राणों का इस वायु से सङ्गमन (मेल) हो, विरोध न हो। वायु तेरे अनुकूल हो और यह वायु तुझमें प्राणशक्ति का सञ्चार कर दे। ४. **अङ्गानि**=तेरे सब अङ्ग **यजत्रैः**=यज्ञों द्वारा त्राण करनेवाले देवों के साथ **सम्** (गच्छन्ताम्)= सङ्गत हों, अर्थात् तेरे सब अङ्गों में दिव्यता का सञ्चार हो। ५. और यह प्राणशक्ति सम्पन्न दिव्यतापूर्ण अङ्गोंवाला **यज्ञपतिः**=यज्ञ का पालक 'मेधातिथि' **सम् आशिषा**=शुभ इच्छाओं से सङ्गत हो, सदा उत्तम इच्छाओंवाला हो।

भावार्थ—हम वीर्यरक्षा के लिए खान-पान को सात्त्विक बनाएँ। हमारी प्राणशक्ति ठीक हो, हमारे सब अङ्ग दिव्यतापूर्ण हों। हमारी इच्छाएँ उत्तम हों।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—वातः। **छन्दः**—भुरिगार्ष्युष्णिक्[क,र], स्वाराडार्च्युष्णिक्[ङ]। **स्वरः**—ऋषभः॥

पति-पत्नी का यज्ञमय जीवन

[क]घृतेनाक्तौ पशूँस्त्रायेथाꣳ रेवति यजमाने प्रियं धाऽआविश।
[र]उरोरन्तरिक्षात्सजूर्देवेन वातेनास्य हविषस्त्मना यज समस्य तन्वा भव।
[ङ]वर्षो वर्षीयसि यज्ञे यज्ञपतिं धाः स्वाहा देवेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा॥११॥

पिछले मन्त्र में 'वीर्यरक्षा' का प्रकरण था। 'उस मन्त्र के अनुसार खान-पान सात्त्विक होने पर पति-पत्नी का जीवन कैसा बनेगा?' इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में है। १. **घृतेन आक्तौ**=तुम दोनों शरीर में मल-क्षरण से और मस्तिष्क में ज्ञान की दीप्ति से अलंकृत होते हो। २. **पशून् त्रायेथाम्**=अपने दीप्त मस्तिष्कवाले स्वस्थ शरीरों में तुम काम-क्रोध आदि पशुओं की रक्षा करो—इनको क़ाबू में रक्खो। ठीक उसी प्रकार जैसे चिड़ियाघर में शेर-चीते आदि को बन्धन में रखते हैं। (कामः पशुः, क्रोधः पशुः)। वस्तुतः वीर्यरक्षा का यह स्वाभाविक परिणाम है कि मनुष्य काम-क्रोधादि का शिकार नहीं होता। ३. यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि **रेवति यजमाने**=धन-सम्पन्न यज्ञशील व्यक्तियों में **प्रियं धाः**=तृप्ति व शान्ति को स्थापित कीजिए। आप **आविश** =हमारे हृदयों में प्रविष्ट होओ, अर्थात् आपकी कृपा से हम संसार-यात्रा के लिए आवश्यक धन से युक्त हों और यज्ञशील बनें। हम आपके निवासस्थान बन पाएँ। हमारा हृदय आपका मन्दिर हो। ४. **उरोः अन्तरिक्षात्**=इस विशाल हृदयान्तरिक्ष से **त्मना**=स्वयं **यज**=हमें सङ्गत कीजिए। हम अपने हृदय को आपकी कृपा होने पर ही विशाल बना पाएँगे। ५. प्रभु कहते हैं कि **देवेन वातेन**=दिव्य वायु के हेतु से **अस्य हविषः**=इस हव्य पदार्थ का **सजूः**=बड़े प्रेमवाला होकर **यज**=यजन कर। यह यज्ञशीलता जहाँ वायु को शुद्ध करेगी वहाँ तेरे हृदय में प्राणिमात्र के लिए प्रेम की भावना पैदा करेगी। तेरे हृदय को यही विशाल बनाएगी। **अस्य** (हेतोः)=इस यज्ञ के द्वारा ही तू

तन्वा=शरीर से **सम्भव**=फूल-फल। तेरा शरीर सब प्रकार से उन्नत हो। ६. प्रभु के इस आदेश को सुनकर मेधातिथि प्रभु से प्रार्थना करता है कि **वर्षो**=हे यज्ञिय कर्म से सब सुखों के वर्षक प्रभो! आप मुझ **यज्ञपतिम्**=यज्ञों के रक्षक को **वर्षीयसि यज्ञे**=सब सुखों के वर्षक उत्कृष्ट यज्ञ में **धाः**=स्थापित कीजिए। मैं **देवेभ्यः**=देवताओं के लिए **स्वाहा**=उत्तम आहुति देनेवाला होऊँ और **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **स्वाहा**=स्वार्थ का त्याग करनेवाला बनूँ। वस्तुतः यज्ञ से वायु आदि देवताओं की शुद्धि होती है और मनुष्य को दिव्य गुणों की प्राप्ति होती है, क्योंकि यज्ञ का मूल ही स्वार्थत्याग है।

भावार्थ—हमारा जीवन यज्ञमय हो।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—भुरिक्प्राजापत्यानुष्टुप्[क], भुरिगासुर्यनुष्टुप्[ख]। **स्वरः**—गान्धारः॥

दिव्य गुण

माहिर्भूर्मा पृदाकुर्नमस्तऽआतानानर्वा प्रेहि।
[र]घृतस्य कुल्याऽउपऽऋतस्य पथ्याऽअनु॥१२॥

पिछले मन्त्र की समाप्ति दिव्य गुणों को प्राप्त करने की प्रार्थना पर थी। उन्हीं दिव्य गुणों का संकेत प्रस्तुत मन्त्र में दिया गया है। विद्वान् आचार्य मेधातिथि (समझदार) को आदेश देते हैं कि १. **अहिः मा भूः** =तू साँप मत बन। तुझमें सर्पवत् कुटिलता न हो। तू औरों को डसनेवाला, कटु शब्दों से उनके मन, हृदय को विद्ध करनेवाला न हो। २. **मा पृदाकुः**=तू अजगर न हो, औरों को निगल जानेवाला न हो। औरों की सम्पत्ति को तूने हड़प नहीं लेना। ३. **नमः ते**=इस प्रकार उत्तम जीवनवाले तेरे लिए आदर हो। सभी लोगों का तू हृदय से आदरणीय बन। ४. **आतान**=तू अपनी सब शक्तियों का सदा विस्तार कर। ५. परन्तु **अनर्वा**=तू किसी की हिंसा करनेवाला न हो। तेरी शक्तियाँ परि-रक्षण के लिए हों, पर-पीड़न के लिए नहीं। ६. **प्रेहि**=तू निरन्तर आगे बढ़ ७. **घृतस्य कुल्या उप**=ज्ञान की नहरों के समीप पहुँच और ८. **ऋतस्य पथ्या अनु**=ऋत के मार्गों के साथ तू आगे बढ़, अर्थात् आगे बढ़ने व उन्नति का स्वरूप यही है कि मनुष्य ज्ञान की धाराओं के समीप पहुँचता जाए और सूर्य-चन्द्रमा की गति के अनुसार अपने जीवन-मार्ग पर बड़े नियम से चले।

भावार्थ—वेद के दृष्टिकोण में दिव्य जीवन यह है १. कुटिलता का सर्वथा त्याग २. चुभनेवाली बातें न करना, कटु न बोलना ३. औरों की सम्पत्ति को न हड़पना ४. अपना जीवन आदरणीय बनाना ५. हिंसा न करना ६. निरन्तर आगे बढ़ना ७. ज्ञान प्राप्त करना और ८. नियमित जीवन बिताना।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

आचार्य

देवीरापः शुद्धा वोऽद्ध्वꣳ सुपरिविष्टा देवेषु
सुपरिविष्टा वयं परिवेष्टारो भूयास्म॥१३॥

दिव्य जीवन बनाने के लिए माता-पिता आचार्यों से प्रार्थना करते हैं कि १. **देवीः**=ज्ञान की ज्योति से चमकनेवाले **आपः**=रेतस् के पुञ्ज (आपः रेतस्) अथवा आप्त **शुद्धाः**=शुद्ध मनोवृत्तिवाले आचार्यो! **वोऽद्ध्वम्**=('वह' प्रापणे='नी' उपनयन) आप इन विद्यार्थियों को अपने समीप लाइए, उनका उपनयन कीजिए। वेद के **'आचार्य उपनयनमानो ब्रह्मचारिणं**

कृणुते गर्भमन्तः' इन शब्दों के अनुसार उन्हें अपने गर्भ में धारण कीजिए। माता जैसे गर्भस्थ बालक की रक्षा करती है आप उसी प्रकार इन विद्यार्थियों के सदाचार आदि की रक्षा कीजिए। २. ये विद्यार्थी **सुपरिविष्टाः**=सुपरिविष्ट हों, अर्थात् इन्हें आपके द्वारा ज्ञान का भोजन उत्तमता से परोसा जाए। 'ब्रह्मचर्य' शब्द में भी ज्ञान के भक्षण की भावना है। ३. **देवेषु**=विद्वान् आचार्यों के समीप **सुपरिविष्टाः**=खूब उत्तमता से परोसे हुए ज्ञान को, अर्थात् आचार्यों के समीप रहकर सब प्राकृतिक देवों से सम्बन्धित ज्ञान को प्राप्त करनेवाले **वयम्**=हम **परिवेष्टारः**=इस ज्ञान के भोजन के परोसनेवाले **भूयास्म**=बनें। ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञान को औरों तक पहुँचानेवाले बनें।

भावार्थ—राष्ट्र में आचार्य दिव्य ज्योतिवाले, शक्तिसम्पन्न व शुद्ध वृत्तिवाले हों। इनके समीप रहकर विद्यार्थी ज्ञान का भोजन प्राप्त करें और स्वयं ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञान का सर्वत्र प्रसार करनेवाले हों।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—भुरिगार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

शोधन

वाचं॑ ते शुन्धामि प्रा॒णं ते॑ शुन्धामि॒ चक्षु॑स्ते शुन्धामि॒ श्रोत्रं॑ ते शुन्धामि॒ नाभिं॑ ते शुन्धामि॒ मेढ्रं॑ ते शुन्धामि पा॒युं ते॑ शुन्धामि च॒रित्राँ॑स्ते शुन्धामि॥१४॥

'आचार्य विद्यार्थी के जीवन का किस प्रकार शोधन करता है?' इस विषय को प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि—१. **ते वाचं शुन्धामि**=(आचार्य विद्यार्थी से कहता है कि) मैं तेरी वाणी को शुद्ध करता हूँ, जिससे तू इस वाणी को असत्यभाषण से अपवित्र करनेवाला न हो। तेरी वाणी सत्य से सदा पवित्र बनी रहे। २. **ते प्राणं शुन्धामि**=मैं तेरी घ्राणेन्द्रिय को शुद्ध करता हूँ, जिससे तू घ्राणेन्द्रिय से कृत्रिम गन्धों के प्रति आसक्त न हो जाए। ३. **ते चक्षुः शुन्धामि**=तेरी आँख को शुद्ध करता हूँ, जिससे तू पवित्र दृष्टि से देखनेवाला बने। स्त्रियों में मातृभावना, परद्रव्यों में लोष्ठभावना, सर्वप्राणियों में आत्मभावना से तू देखनेवाला हो। हिमाच्छादित पर्वतों, समुद्रों, विशाल पृथिवी व आकाश के तारों में तू प्रभु की महिमा को देखे। ४. **ते श्रोत्रं शुन्धामि**=तेरे कान को शुद्ध करता हूँ, जिससे तू इन कानों से अभद्र बातों को न सुनता रहे। तुझे निन्दा की बातें सुनने में स्वाद न आये। ५. **नाभिं ते शुन्धामि**=मैं तेरी नाभि को पवित्र करता हूँ, जिससे तेरा जीवन संयम के बन्धन में बँधकर चले। ६. **ते मेढ्रं शुन्धामि**=तेरी उपस्थेन्द्रिय को शुद्ध करता हूँ, जिससे तू ब्रह्मचर्य का जीवन बिताते हुए मूत्र-सम्बन्धी सब रोगों से बचा रहे। ७. **ते पायुं शुन्धामि**=तेरी मलशोधक इन्द्रिय को शुद्ध करता हूँ, जिससे ठीक मल-शोधन होते रहकर तू रोगों से बचा रहे। ८. **ते चरित्रान् शुन्धामि**=तेरे पाँवों को शुद्ध करता हूँ, जिससे तेरे चरित्र (चाल-ढाल) सदा ठीक बने रहें।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी के जीवन को परिशुद्ध कर डालता है।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्[क], आर्षीपंक्तिः[ख]। **स्वरः**—धैवतः, पञ्चमः॥

आप्यायन

[क]मन॑स्त॒ऽआप्या॑यतां॒ वाक् त॒ऽआप्या॑यतां प्रा॒णस्त॒ऽआप्या॑यतां॒ चक्षु॑स्त॒ऽआप्या॑यता॒ꣳ श्रोत्रं॑ त॒ऽआप्या॑यताम्। [ख]यत्ते॑ क्रू॒रं यदास्थि॑त॒ं तत्त॒ऽआप्या॑यतां॒ निष्ट्या॑यतां॒ तत्ते॑ शुध्यतु॒ शमहो॑भ्यः। ओष॑धे॒ त्राय॑स्व॒ स्वधि॑ते॒ मैन॑ꣳहिꣳसीः॥१५॥

गत मन्त्र के 'शोधन' के बाद प्रस्तुत मन्त्र में 'आप्यायन' का वर्णन आता है। आचार्य विद्यार्थी से कहता है कि १. **ते मनः आप्यायताम्**=तेरा मन बढ़े। तेरे मन में सदा उत्साह का सञ्चार हो। निराशा तेरे मनःप्रसाद में किसी प्रकार की कमी को न आने दे। २. **ते वाक् आप्यायताम्**=तेरी वाणी आप्यायित हो—यह सदा सत्य बोलने के कारण 'क्रियाफलाश्रित' हो, अर्थात् जैसा तेरी वाणी से निकले वैसा ही हो जाए। ३. **ते प्राणः आप्यायताम्**=तेरे प्राण आप्यायित हों। तेरी घ्राणेन्द्रिय की शक्ति बढ़े। तू सूँघने के द्वारा ही 'सगन्धत्व' को, बन्धुत्व को, पहचाननेवाला हो। ४. **ते चक्षुः आप्यायताम्**=तेरी दृष्टिशक्ति आप्यायित हो। तू दूर तक देख सके, सूक्ष्म वस्तु को भी तेरी आँख देखने में समर्थ हो। ५. **श्रोत्रं ते आप्यायताम्**=तेरी श्रवणशक्ति विकसित हो। तू सूक्ष्म शब्दों को भी सुनने में समर्थ हो। ६. **यत् ते क्रूरम्**=जो कुछ भी तेरा भयंकर कर्म व स्वभाव है **तत् ते**=वह तेरा **निष्ट्यायताम्**=तुझसे दूर हो जाए, **तत् ते शुध्यतु**=वह तेरा शुद्ध हो जाए। तेरे उस स्वभाव का शोधन होकर क्रूरता दूर हो जाए। **यत्**=जो **आस्थितम्**=तेरी स्थिरता व दृढ़ता है, वह **आप्यायताम्** =आप्यायित हो, अर्थात् तुझमें क्रूरता तो न हो, परन्तु मोहमयी मृदुता भी न हो, तेरे स्वभाव में कुछ दृढ़ता बनी रहे। ७. इस क्रूरता के न होने और स्थिरता के होने से **अहोभ्यः शम्**=तेरे दिनों के लिए शान्ति हो, अर्थात् तू शान्तिपूर्वक दिनों को बितानेवाला बन। ८. **ओषधे**=हे दोषों का दहन करनेवाले आचार्य! **त्रायस्व**=तू विद्यार्थी की रक्षा कर, उसे किन्हीं भी असदाचरणों में गिरने से बचा। ९. **स्वधिते**=आत्मीयों का धारण करनेवाले तथा आत्मतत्त्व का धारण करनेवाले! तू **एनम्**=इस अपने शिष्य को **मा हिंसीः**=मत हिंसित होने दे।

भावार्थ—आचार्य-कृपा से विद्यार्थी के सब अङ्गों का आप्यायन हो। उसका स्वभाव उत्तम हो। वह वासनाओं का शिकार न हो जाए।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—ब्राह्म्युष्णिक्[क,२]। **स्वरः**—ऋषभः॥

रक्षो बाधन

[क]रक्षसां भागोऽसि निरस्तꣳरक्षऽइदमहꣳरक्षोऽभितिष्ठामीदमहꣳ रक्षोऽवबाधऽइदमहꣳरक्षोऽधमं तमो नयामि। [२]घृतेन द्यावापृथिवी प्रोर्णुवाथां वायो वे स्तोकानामग्निराज्यस्य वेतु स्वाहा स्वाहाकृतेऽऊर्ध्वनभसं मारुतं गच्छतम्॥१६॥

१. अपने सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों का आप्यायन करके हे मेधातिथि! तू **रक्षसाम्**=राक्षसी वृत्तियों का **भागः**=दूर भगानेवाला (भज्=put to flight) **असि**=है। **रक्षः**=सब रोगकृमि **निरस्तम्**=दूर फेंक दिये गये हैं। **इदम्**=यह **अहम्**=मैं **रक्षः**=इन राक्षसी वृत्तियों का **अभितिष्ठामि**=मुक़ाबला करता हूँ। **इदम् अहम्**=यह मैं **रक्षः**=इन रोगकृमियों को **अधमं तमः नयामि**=सबसे निकृष्ट अन्धकारमय स्थान में पहुँचाता हूँ, अपने से दूर अदृश्य स्थान में धकेल देता हूँ। २. इस प्रकार राक्षसी वृत्तियों व रोगकृमियों को दूर करके **द्यावापृथिवी**=(द्यौरहं पृथिवी त्वम्) पति-पत्नी दोनों ही **घृतेन**=मलक्षरण द्वारा शरीर के स्वास्थ्य से और ज्ञान की दीप्ति से **प्रोर्णुवाथाम्**=अपने को आच्छादित करते हैं। ३. हे **वायो**=गति के द्वारा अपनी सब बुराइयों को समाप्त करनेवाले! तू **स्तोकानाम्**=छोटी-छोटी बातों का भी **वेः**=जाननेवाला हो (वेः=विद्धि—द०)। यदि हम छोटी-छोटी ग़लतियों को अपने अन्दर न आने देंगे, तभी वास्तविक उत्थान होगा। ४. **अग्निः**=यह प्रकाशमय जीवनवाला व्यक्ति **आज्यस्य**=(आज्यं वै तेजः)

तेज को **वेतु**=प्राप्त करें। ५. **स्वाहा**=इन सब बातों के लिए वह स्वार्थत्याग करे। ६. और हे **स्वाहाकृते**=स्वार्थत्याग करनेवाले पति-पत्नियो ! **ऊर्ध्वनभसम्**=उत्कृष्ट हिंसावाले **मारुतम्**=रश्मि-समूह को **गच्छतम्**=प्राप्त होवो। ज्ञान की रश्मियों का समूह वासनाओं का विनाश करता है। यह वासना-विनाश ही उत्कृष्ट हिंसा है। (नभ् हिंसायाम्)।

भावार्थ—हम रोगकृमियों व राक्षसी वृत्तियों को अपने से दूर कर दें। पति-पत्नी दोनों ही स्वस्थ व ज्ञानी बनें। छोटी-छोटी कमियों का ध्यान करके उन्हें दूर करें। स्वार्थत्याग करनेवाले ये पति-पत्नी उस ज्ञान रश्मिसमूह को प्राप्त करें जो उनकी वासनाओं के अन्धकार का विनाश करे।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—निचृद्ब्राह्म्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पाप-मोचन

इदमापः प्रवहतावद्यं च मलं च यत्। यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपेऽअभीरुणम्।
आपो मा तस्मादेनसः पवमानश्च मुञ्चतु॥१७॥

गत मन्त्र का 'मेधातिथि' ज्ञान-रश्मिसमूह से वासनान्धकार का विदारण करके अब 'दीर्घतमा' बन गया है और प्रार्थना करता है कि—१. **आपः**=(आप्नुवन्ति सर्वा विद्याः) हे सब विद्याओं को प्राप्त करानेवाले आप्त पुरुषो! आप **इदम्**=इस **अवद्यं च**=अकथनीय—गर्हणीय पापों को **मलं च**=और मलों को **प्रवहत**=हमसे बहाकर दूर ले-जाओ। आपकी कृपा से मेरे ज्ञानचक्षु इस प्रकार खुलें कि मैं कोई भी बुरा कर्म न करूँ और खान-पान को ठीक रखता हुआ शरीर में किसी प्रकार के मल का सञ्चय न होने दूँ। २. **च**=और **यत्**=जो **अभिदुद्रोह**=मैं किसी का द्रोह (जिघांसा=मारने की इच्छा) करता हूँ, **यत् च**=और जो **अनृतम्**=झूठ-मूठ बातों को बनाता हूँ तथा **अभीरुणम्**=(अनपराधिनं) निष्पाप और निर्भय व्यक्ति से **शेपे**=गाली-गलौच करता हूँ **तस्मात् एनसः**=उस पाप से **आपः**=ज्ञानी लोक तथा **पवमानः च**=अपने को पवित्र करनेवाले सन्त लोग **मुञ्चतु**=अपने ज्ञानोपदेश व मधुर प्रेरणा के द्वारा मुक्त करें।

भावार्थ—सबसे बड़े पाप यही हैं कि (क) किसी से द्रोह करना (ख) अनृत बोलना (ग) निष्पाप को कोसना। ज्ञानी, पवित्रात्मा लोग हमें इन पापों से छुड़ाएँ।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—प्राजापत्यानुष्टुप्[क], दैवीपङ्क्तिः[ख]आर्चीपङ्क्तिः[ग]। **स्वरः**—गान्धारः[क], पञ्चमः[ख,ग]॥

मन व प्राण

[क]सं ते मनो मनसा सं प्राणः प्राणेन गच्छताम्। [ख]रेडस्यग्निष्ट्वा श्रीणात्वाप स्त्वा समरिणन्वातस्य त्वा ध्राज्यै पूष्णो रꣳह्याऽऊष्मणो व्यथिषत्प्रयुतं द्वेषः॥१८॥

पिछले मन्त्र के अनुसार जब 'दीर्घतमा' पापमुक्त होता है तब प्रभु उससे कहते है कि १. **ते**=तेरा **मनः**=मन **मनसा**=मननशक्ति से **सङ्गच्छताम्**=सङ्गत हो और **प्राणः**=जीवन **प्राणेन**=जीवनीशक्ति से **सङ्गच्छताम्**=सङ्गत हो, अर्थात् तुझमें ऋषियों की मननशक्ति हो और मल्लों की जीवनी शक्ति हो। तेरे 'क्षत्र व ब्रह्म' दोनों ही खूब विकसित हों। २. **रेट् असि**=(रिष हिंसायाम्) तू ज्ञान-प्राप्ति में विघ्नभूत कामादि वासनाओं का संहार करनेवाल है और रोगों के कारणभूत स्वादादि को समाप्त करनेवाला है। ३. **अग्निः**=ज्ञानाग्नि **त्व**

श्रीणातु=तुझे परिपक्व करे, अर्थात् ज्ञानाग्नि के कारण तेरे विचार इतने परिपक्व हों कि वे धर्म के मार्ग से कभी विचलित न हों। ४. **आपः**=विद्याओं को व्याप्त करनेवाले ज्ञानी लोक **त्वा**=तुझे **समरिणन्**=उत्तम गतिवाला करें (रिणतिः गतिकर्मसु)। अथवा जल तेरे सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों व ग्रन्थियों को ठीक गतिवाला करें। ५. **त्वा**=तुझे **वातस्य**=वायु की **ध्राज्यै**=तीव्र गति के लिए **ऊष्मणः**=तेज़ी से--क्रोध में आ जाने से **व्यथिषत्**=भयभीत कर दूर भगा दे, अर्थात् क्रोध से तू डरे और इस क्रोध से सदा बचे रहकर वायु की तरह अपने कर्मों में तू लगा रहे। ६. **पूष्णः**=पोषण के देवता सूर्य की **रंह्यै**=गति के लिए, अर्थात् सूर्य के समान नियमित कार्यक्रम में लगे रहने के लिए **द्वेषः**=द्वेष से **प्रयुतम्**=दूर करें (यु=अमिश्रण)। मनुष्य जब द्वेष की भावना से युक्त होता है तब सूर्य के समान निर्लेप नहीं हो पाता। मनुष्य द्वेष से ऊपर उठकर ही न्याय-मार्ग पर चल पाता है।

भावार्थ—मेरे मन व प्राण बलिष्ठ हों। मुझे क्रोध व द्वेष न छूएँ।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—ब्राह्म्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

घृत व वसा का पान

घृतं घृतपावानः पिबत वसां वसापावानः पिबतान्तरिक्षस्य हविरसि स्वाहा।
दिशः प्रदिशऽआदिशो विदिशऽउद्दिशो दिग्भ्यः स्वाहा॥१९॥

पिछले मन्त्र की भावना को ही शब्दान्तर से कहते हैं कि १. **घृतपावानः**=घृत अर्थात् मल-क्षरण का पान करनेवालो! **घृतं पिबत**=मल-क्षरण का पान करो। शरीर से मल-क्षरण का पूरी तरह से ध्यान करो। शरीर में मलों का सञ्चय न होगा तभी तुम स्वास्थ्य की दीप्ति से चमकोगे। प्राणशक्ति की वृद्धि का एकमात्र मार्ग यही है। २. **वसापावानः**=(वसा=brain=दिमाग़) दिमाग़ की रक्षा करनेवालो! **वसां पिबत**=मस्तिष्क का पान करो, अर्थात् मस्तिष्क की सुरक्षा का पूर्ण प्रयत्न करो, तभी तो पूरी मननशक्ति से सङ्गत होओगे। ३. तू **अन्तरिक्षस्य**=हृदयान्तरिक्ष का **हविः**=हवि **असि**=है। हवि का अभिप्राय 'दानपूर्वक अदन करना है'। तेरे हृदय में यह भावना सदा बनी रहती है। यही त्यागपूर्वक भोग है—यज्ञशेष 'अमृत' का सेवन है। **स्वाहा**=तू इसके लिए स्वार्थ का त्याग करनेवाला हो। स्वार्थत्याग से ही हविर्मय जीवन बनेगा। ४. तेरा शरीर घृत=मल-क्षरण से स्वास्थ्य की दीप्तिवाला हुआ है, मस्तिष्क वसा=दिमाग़ी ताकत की रक्षा से मनन की शक्ति से परिपूर्ण हुआ है और हृदय त्याग की भावनावाला होकर हविरूप हो गया है। इस प्रकार तूने सर्वतोमुखी उन्नति का साधन किया है। **दिशः-प्रदिशः-आदिशः-विदिशः-उद्दिशः-दिग्भ्यः**=पूर्वादि सब दिशाओं तथा ऊपर-नीचे इस प्रकार छह-की-छह ओर से **स्वाहा**=(सु+आ+हा) सब ओर युद्ध-क्रिया से शत्रुओं का खूब संहार किया है (युद्धानुरूप क्रिया से शत्रुओं को जीता है—द०)। जीव पर छह दिशाओं से छह शत्रु महारथियों का आक्रमण होता है। जीव को इन सब महारथियों का पराजय करके 'विश्वेदेवाः' सब दिव्य गुणों को प्राप्त करना है।

भावार्थ—हम स्वास्थ्य व मस्तिष्क की रक्षा करें। हृदय को त्याग की भावना से परिपूर्ण करें और छह दिशाओं से आक्रमणकारी छह शत्रु महारथियों (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर) पर विजय प्राप्त करें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—त्वष्टा। छन्दः—ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

प्रतिकूल की अनुकूलता

ऐन्द्रः प्राणोऽअङ्गेऽअङ्गे निदीध्यदैन्द्रऽउदानोऽअङ्गेऽअङ्गे निधीतः।
देव त्वष्टर्भूरि ते सꣳसमेतु सलक्ष्मा यद्विषुरूपं भवाति।
देवत्रा यन्तमवसे सखायोऽनु त्वा माता पितरो मदन्तु॥२०॥

पिछले मन्त्र के अनुसार सब शत्रुओं का संहार कर देने से १. **ऐन्द्रः प्राणः**=जीव की प्राणशक्ति **अङ्गे अङ्गे**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में **निदीध्यत्**=चमकती है। **ऐन्द्रः उदानः**=यह जीव-सम्बन्धी उदानशक्ति भी **अङ्गे अङ्गे** =प्रत्येक अङ्ग में **निधीतः**=(निहितः) निहित हुई है। प्राणशक्ति स्वास्थ्य का कारण बनती है तो उदानशक्ति ज्ञानवृद्धि के द्वारा सब प्रकार के उत्थान का कारण होती है। २. हे **देव**=दिव्य गुणसम्पन्न! **त्वष्टः**=शक्ति व ज्ञान के द्वारा सब उत्तमताओं का निर्माण करनेवाले! **ते**=तुझे **भूरि**=(भृ=धारणपोषण) धारणपोषण के सब तत्त्व **सम् सम् एतु**=उत्तमता से प्राप्त हों। **यत्**=जो **विषुरूपम्**=प्रतिकूलता हो वह **सलक्ष्मा**=अनुकूलता में परिणत **भवाति**=हो जाती है। प्राणोदान शक्ति के ठीक होने पर किसी तत्त्व की प्रतिकूलता का प्रश्न ही नहीं रह जाता। ये प्राणोदान सबको अनुकूल कर लेते हैं। ३. सबको अनुकूल बनाकर **अवसे**=अपने रक्षण के लिए **देवत्रा यन्तम्**=दिव्य गुणों की ओर जाते हुए **त्वा अनु**=तुझे देखकर **सखायः**=सब सखा व **माता पितरः**=माता-पिता **मदन्तु**=हर्ष का अनुभव करें। तुम्हें उन्नतिपथ पर जाते देखकर सबको प्रसन्नता हो।

भावार्थ—प्राण एवं उदान को सिद्ध करके हम जीवन का निर्माण करें। दिव्य गुणों की ओर बढ़ें। हमारे जीवन को देखकर मित्रों व पिता-माता को प्रसन्नता हो।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—सेनापतिः। छन्दः—साम्नी[क] ब्राह्मी[ख] भुरिगार्षी[ग] आर्ष्युष्णिक[घ]। स्वरः—ऋषभः॥

ग्यारह दिव्य गुण

[क]समुद्रं गच्छ स्वाहाऽन्तरिक्षं गच्छ स्वाहा [ख]देवꣳसवितारं गच्छ स्वाहा मित्रावरुणौ गच्छ स्वाहाऽहोरात्रे गच्छ स्वाहा छन्दाꣳसि गच्छ स्वाहा द्यावापृथिवी गच्छ स्वाहा [ग]यज्ञं गच्छ स्वाहा सोमं गच्छ स्वाहा दिव्यं नभो गच्छ स्वाहाग्निं वैश्वानरं गच्छ स्वाहा [घ]मनो मे हार्दि यच्छ दिवं ते धूमो गच्छतु स्वर्ज्योतिः पृथिवीं भस्मनापृण स्वाहा॥२१॥

पिछले मन्त्र में 'देवत्रा यन्तम्' दिव्य गुणों की ओर जानेवाले का उल्लेख था। वे दिव्य गुण ही प्रस्तुत मन्त्र में प्रतिपादित हो रहे हैं। १. **स्वाहा** (स्वाहा=वाक्—नि० १।११) वेदवाणी के द्वारा **समुद्रं गच्छ**=समुद्र को जा। समुद्र गम्भीरता का प्रतीक है। वेदवाणी व ज्ञान की वाणियों के पढ़ने का जीवन पर पहला परिणाम यह है कि मनुष्य की मनोवृत्ति गम्भीरता को लिये हुए होती है। वह उथला नहीं होता। इस गम्भीरता का अभिप्राय किसी प्रकार भी उदास व मुस्कराहट से शून्य चेहरे से नहीं है। यह व्यक्ति **स-मुद्रः**=सदा प्रसन्न होता है। मनःप्रसाद इसकी दृष्टि में सर्वोच्च तप है। २. **स्वाहा**=इस वेदवाणी के द्वारा **अन्तरिक्षं गच्छ** =अन्तरिक्षं को प्राप्त हो। 'अन्तरिक्ष' मध्यमार्ग का प्रतीक है। अन्तरा क्षि=बीच में चलना। अन्तरिक्ष भी द्युलोक और पृथिवीलोक के बीच में है। अति में न जाकर सद

मध्य में रहना। अतिभोजन न करना, उपवास में भी अति न कर जाना। ३. **देवं सवितारं गच्छ स्वाहा**=तू वाणी के द्वारा जीवन को प्रकाश देनेवाले सूर्य को प्राप्त हो। सूर्य को प्राप्त होने का अभिप्राय 'तेजसा सूर्यसंकाशः' इन शब्दों में स्पष्ट है—तू सूर्यदेव के समान तेजस्वी बन। ज्ञान भोगों से हटाता है तो तेजस्वी भी बनाता है। ४. **मित्रावरुणौ गच्छ स्वाहा**=वेदवाणी के द्वारा तू मित्रावरुण को प्राप्त करनेवाला हो। 'मित्र' स्नेह की देवता है तो 'वरुण' द्वेष-निवारण की देवता है। ज्ञानी बनकर सब 'प्रभु के ही पुत्र हैं' ऐसा समझनेवाला द्वेष कर ही नहीं सकता। वह सबसे प्रेम करेगा ही। ५. **अहोरात्रे गच्छ स्वाहा**=इन ज्ञान की वाणियों से तू अहन् व रात्रि को प्राप्त हो। अहन् 'दिन' है—यह न हनन करने योग्य है। ज्ञानी पुरुष दिन के एक क्षण को भी अकर्मण्यता में नहीं बिताता। इसी का परिणाम है कि रात्रि इसके लिए रमयित्री होती है। इसमें कार्यों का विराम करके वह वस्तुतः निद्रा में रमण करनेवाला होता है—सुख की नींद सोता है। ६. **स्वाहा**=इन ज्ञान की वाणियों के द्वारा तू **छन्दांसि गच्छ**=(छन्दांसि छादनात्) छन्दों को प्राप्त हो—तेरे पापों का छादन हो। ये ज्ञान की वाणियाँ तुझे पापों के आक्रमण से बचानेवाली हों। ७. **स्वाहा**=इस वेदवाणी के द्वारा तू **द्यावापृथिवी गच्छ**=द्यावापृथिवी को प्राप्त कर। तेरा मस्तिष्करूप द्युलोक द्युतिमय हो। तेरा पृथिवीरूप शरीर प्रथन=विस्तारवाला हो। ८. **यज्ञं गच्छ स्वाहा**=तू इस वेदवाणी से यज्ञ को प्राप्त हो। तेरा जीवन यज्ञिय हो। ज्ञान को प्राप्त करके 'मनुष्य स्वार्थी बना रहे' यह नहीं हो सकता। ९. **स्वाहा**=इस ज्ञान की वाणी के अध्ययन से तू **सोमं गच्छ**=सोम को प्राप्त हो। शरीर में वीर्य की रक्षा करनेवाला बन। १०. इस सोमरक्षा से जहाँ तू **स्वाहा**=वेदवाणी का अध्ययन करता हुआ **दिव्यं नभः**=प्रकाशमय द्युलोक को **गच्छ**=प्राप्त हो, वहाँ ११. **स्वाहा**=इस ज्ञान की वाणी के द्वारा **वैश्वानरं अग्निम्**=वैश्वानर अग्नि को, अर्थात् पाचनशक्ति को **गच्छ**=प्राप्त हो। यह ज्ञान तुझे अतिभोजन व असंयमादि दोषों से बचाकर सदा दीप्त अग्निवाला बनाएगा। जब तक तेरी अग्नि दीप्त है तब तक तेरा शरीर सर्वथा स्वस्थ ही रहेगा। १२. इस स्वस्थ शरीर में, प्रभु दीर्घतमा से कहते हैं कि **मे**=मेरे दिये हुए **मनः** =इस मन को **हार्दि**=हृदय (heart) में **यच्छ**=तू नियन्त्रित करनेवाला बन। मन 'हृत् प्रतिष्ठ' है। यह जब कभी स्थिर होगा तो हृदय में ही स्थिर होगा, क्योंकि वहाँ प्रभु का निवास है और इस प्रभु में एक बार उलझा हुआ मन न उसके ओर-छोर को पा सकता है और न फिर वहाँ से निकल सकता है। मन का स्वभाव ही यह है कि किसी भी वस्तु को चारों ओर से देखकर फिर उससे ऊब जाता है और अन्यत्र भागने की करता है। प्रभु को न तो यह पूरी तरह से देख पाता है और न ही फिर वहाँ से निकल पाता है। एवं, यह हृदय में नियन्त्रित हो जाता है। १३. नियन्त्रित मनवाला व्यक्ति ही यज्ञादि उत्तम कर्मों में लग पाता है। प्रभु इससे कहते हैं कि **ते**=तेरा **धूमः**=यज्ञ का धूम **दिवं गच्छतु**=द्युलोक तक पहुँचे, **ज्योतिः**=यह यज्ञाग्नि की ज्योति तेरे **स्वः**=स्वर्ग का कारण बने। यज्ञों से सब रोगादि दूर होकर घर स्वर्ग बन जाता है, अतः तू **पृथिवीम्**=इस पृथिवी को **भस्मना**=यज्ञाग्नि की भस्म से **पृण**=पूरित कर दे। इस पृथिवी पर स्थान-स्थान पर यज्ञ होंगे तो सब ऋतुएँ ठीक समय पर आकर सबके कल्याण का कारण बनेंगी।

भावार्थ—हम जीवन में गाम्भीर्य, मध्यमार्गाक्रमण, तेजस्विता, स्नेह व द्वेषाभाव, कर्मठता व सुखनिद्रा, पाप-निवारण, देदीप्यमान मस्तिष्क व दृढ़ शरीर, यज्ञ, सोमरक्षा, प्रकाशमय अहिंसक वृत्ति तथा तीव्र जाठराग्नि को धारण करें। मन को वशीभूत करके

यज्ञमय जीवन बिताएँ।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—वरुणः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्म्युष्णिक्[क], त्रिपाद्विराड्गायत्री[ख]। स्वरः—ऋषभः[क], षड्जः[ख]॥

जल-ओषधियाँ-गौवें

[क]मापो मौषधीर्हिꣳसीर्धाम्नोधाम्नो राजँस्ततो वरुण नो मुञ्च। यदाहुरघ्न्याऽइति वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्च। [ख]सुमित्रिया नऽआपऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥२२॥

पिछले मन्त्र में ११ सद्गुणों का उल्लेख था। 'सब प्रजाओं के अन्दर ये दिव्य गुण आएँ', इसके लिए राजा को यह व्यवस्था करनी है कि सब लोगों को उत्तम जल, उत्तम ओषधियाँ प्राप्त हों। राष्ट्र में वृक्षों की स्थिति ठीक हो। वर्षा बहुत कुछ इन वृक्षों पर ही निर्भर है। राष्ट्र में गो-हिंसा कानूनन बन्द हो, क्योंकि मानव-जीवन की उन्नति इन गौवों पर निर्भर करती है। मन्त्र में कहते हैं कि १. हे **राजन्**=राष्ट्र में सुव्यवस्था (Regulation) लानेवाले! तू **धाम्नः धाम्नः**=प्रत्येक स्थान से **आपः**=जलों की **मा**=मत **हिंसीः**=हिंसा होने दे तथा **मा**=मत **ओषधीः**=ओषधियों की **हिंसीः**=हिंसा होने दे। हे **वरुण**=राष्ट्र को नियमों के पाशों से बाँधनेवाले राजन्! **नः**=हमें **ततः**=इन पापों से **मुञ्च**=मुक्त कीजिए। न तो हम जलों को खराब करनेवाले हों और न ही वनस्पतियों को व्यर्थ में हिंसित करनेवाले हों। प्रत्येक ग्राम व नगर के चारों ओर वृक्षों के उपवन होने चाहिएँ। ये आँधियों से सुरक्षित करते हैं इनसे रेगिस्तान की वृद्धि न होकर वृष्टि अधिक होती है। २. **यत्**=जिसे आप **अघ्न्या**=न मारने योग्य **आहुः**=कहते हैं **वरुण इति**=जिसे आप 'वरणीय'—'स्वीकार करने योग्य' इस प्रकार कहते हैं और हम इन बातों का ध्यान न करके **शपामहे**=उन्हें मारते हैं (शपतिर्वधकर्मा—उ०) **ततः**=उस गौ के मरने के अपराध से हे **वरुण** =नियमों में जकड़नेवाले राजन्! **नः**=हमें **मुञ्च**=छुड़ाइए। हम गो-हत्या आदि के पापों से सदा बचे रहें। ३. इस प्रकार करने पर वे **आपः**=जल और **ओषधयः**=ओषधियाँ **नः**=हमारे लिए **सुमित्रिया**=उत्तम स्नेह करनेवाली **सन्तु**=हों। हाँ, **तस्मै**=उसके लिए ये **दुर्मित्रिया सन्तु**=दुःखद शत्रु के तुल्य हों **यः** =जो **अस्मान्**=हमसे **द्वेष्टि**=द्वेष करता है **च**=और **यम्**=जिसको परिणामतः **वयम्**=हम सब **द्विष्मः**=प्रीति नहीं करते। वस्तुतः यह सबसे द्वेष करनेवाला व्यक्ति खिझकर ही भोज्य पदार्थों को खाएगा तो उनसे उत्तम रुधिरादि पैदा न होकर विष ही उत्पन्न होंगे, अतः इन सर्वद्वेषियों के लिए भोजन भी विष बन जाएगा। भोजन तो प्रसन्नचित्त से ही खाना चाहिए।

भावार्थ—हम जलों व ओषधियों को हिंसित न करें। गो-हिंसा को पाप समझें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—अप्-यज्ञः, सूर्यः। छन्दः—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

हविष्मान्

हविष्मतीरिमाऽआपो हविष्माँ२॥ऽआविवासति।
हविष्मान्देवोऽअध्वरो हविष्माँ२॥ऽअस्तु सूर्यः॥२३॥

१. पिछले मन्त्र में वर्णन था कि सब प्रजाएँ जलों, ओषधियों व गौवों की रक्षा करनेवाली हों। अब कहते हैं कि **इमाः**=ये जल, ओषधि व गौवों की हिंसा न करनेवाली

आपः=प्रजाएँ **हविष्मतीः**=हविवाली हों। ये सदा दानपूर्वक अदन करनेवाली हों। वस्तुतः **हविष्मान्**=यह दानपूर्वक अदन करनेवाला व्यक्ति ही **आविवासति**=प्रभु की परिचर्या करता है। प्रभु का आदेश है **त्यक्तेन भुञ्जीथाः**=त्यागपूर्वक भोग करो। बस, जो इस आदेश का पालन करता है, वही प्रभु का सच्चा उपासक है। २. **'केवलाघो भवति केवलादी'** अकेला खानेवाला शुद्ध पाप ही खाता है। **'अपञ्चयज्ञो मलिम्लुचः'** पञ्च यज्ञ न करनेवाला चोर है और वस्तुतः इसके विपरीत **हविष्मान्**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **देवः**=दिव्य गुणोंवाला बनता है। इसके मन में दान की वृत्ति होती है। **अध्वरः**=इसके हाथों से सदा 'अ-हिंसात्मक' उत्तम कर्म होते हैं। २१ वें मन्त्र में यही बात 'दिव्यं नभः' शब्दों से कही गई थी—'प्रकाशमय अहिंसा'। ३. और इन दोनों बातों से बढ़कर बात यह है कि **हविष्मान्**=यह हविवाला—दानपूर्वक अदन करनेवाला **सूर्यः**=ज्ञान का सूर्य **अस्तु**=हो। दूसरे शब्दों में हविष्मान् पुरुष का मन 'देवों' वाला होता है, उनके हाथों में 'अध्वर' होते हैं और इनका मस्तिष्करूप द्युलोक ज्ञान के सूर्य से देदीप्यमान हो उठता है। ४. एवं, 'दिर्घतमाः' का यही मार्ग है कि वह 'हविष्मान्' बने।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से हविष्मान् बनकर हम आपके सच्चे उपासक बनें और अपने मनों को दिव्य गुणों का कोश बनाएँ। हविष्मान् के हाथों में अध्वर होता है और मस्तिष्क में ज्ञान का सूर्य।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्[क], त्रिपाद्गायत्री[ख]। **स्वरः**—धैवतः[क], षड्जः[ख]॥

बल-प्रकाश-स्नेह व द्वेषाभाव की प्रार्थना तथा कन्या का विवाह कहाँ?

[क]अग्नेर्वोऽपन्नगृहस्य सदसि सादयामीन्द्राग्न्योर्भागधेयी स्थ मित्रावरुणयोर्भागधेयी स्थ विश्वेषां देवानां भागधेयी स्थ। [ख]अमूर्याऽउप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह। ता नो हिन्वन्त्वध्वरम्॥ २४॥

१. पिछले मन्त्र में प्रजाओं के हविष्मान् बनने का उल्लेख था। 'हमारी सन्तानें हविष्मान् ही बनी रहें' इस उद्देश्य से प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि हम उनके विवाहादि सम्बन्धों को ऐसे घरों में करें जहाँ अग्निहोत्र इत्यादि नियमपूर्वक होते हों। घर का वातावरण यज्ञ के अनुकूल होगा तो सन्तानें भी उसी प्रवृत्तिवाली बनी रहेंगी। कन्या का पिता कन्या से कहता है कि **वः**=तुम्हें **अपन्नगृहस्य**=(न पत्नं पतितं गृहं यस्य) यज्ञादि उत्तम कर्मों के त्याग से पतित नहीं हुआ है जिसका घर, उस **अग्नेः**=प्रगतिशील व्यक्ति के **सदसि**=घर में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। २. तुम इस उत्तम घर में स्थित होकर **इन्द्राग्न्योः**=इन्द्र और अग्नि के **भागधेयी स्थ**=भाग को धारण करनेवाले बनो। तुममें इन्द्र और अग्नि दोनों देवों का अंश स्थापित हो। 'इन्द्र' बल का प्रतीक है तो 'अग्नि' प्रकाश का। तुम बल और प्रकाशवाले होवो। ३. **मित्रावरुणयोः**=मित्र और वरुण के **भागधेयी स्थ**=भाग को धारण करनेवाले बनो। 'मित्र और वरुण' इन दोनों देवों का अंश तुममें स्थापित हो। तुम मित्र के अंश को धारण करके सबके साथ स्नेह करनेवाले बनो और वरुण के अंश को धारण करके तुम द्वेष का निवारण करनेवाले होओ। तुम किसी से भी द्वेष न करो। ४. ठीक-ठीक बात तो यह है कि तुम **विश्वेषाम्**=सब **देवानाम्**=देवों के **भागधेयी स्थ**=भाग को धारण करनेवाले बनो। तुममें सब दिव्य गुणों की वृद्धि हो। यद्यपि इस वाक्य में 'इन्द्र-अग्नि और

मित्र-वरुण' का भी समावेश है तो भी 'ब्राह्मणा आयाता वसिष्ठोऽप्यायातः'– 'ब्राह्मण आ गये, वसिष्ठ भी आ गये' जैसे इस वाक्य में ब्राह्मणों के अन्तर्गत होते हुए भी अधिक आदरणीय होने से वसिष्ठ का अलग उल्लेख है, उसी प्रकार यहाँ 'इन्द्राग्नी और मित्र-वरुण' का अलग उल्लेख हुआ है। ५. **अमूः**=हमारी वे प्रजाएँ–सन्तानें **याः**=जो **उपसूर्ये**=ज्ञान के सूर्य आचार्य के समीप रही हैं **वा**=और **याभिः सह**=जिनके साथ **सूर्यः**= ज्ञान का सूर्य आचार्य रहा है, अर्थात् आचार्य के समीप रहने से जो सचमुच 'अन्तेवासी' इस नाम से कहलाने योग्य थीं और आचार्य ने भी जिन्हें मानो अपने गर्भ में धारण किया हुआ था, **नः**=हमारी **ताः**=वे सन्तानें **अध्वरम्**=हिंसारहित यज्ञादि कर्मों को **हिन्वन्तु**=(प्रीणन्तु= बढ़ावें–द०) अपने घरों में बढ़ानेवाली (प्रेरित करनेवाली) हों।

भावार्थ–हमारे घरों में यज्ञों का कभी लोप न हो, हमारी सन्तानें सब देवांशों को धारण करनेवाली हों। विशेषतया उनमें 'बल, प्रकाश, स्नेह व द्वेषाभाव' तो अवश्य ही हों।

ऋषिः–मेधातिथिः। **देवता**–सोमः। **छन्दः**–विराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**–गान्धारः॥

पति पत्नी से

हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्याय त्वा।
ऊर्ध्वमिममध्वरं दिवि देवेषु होत्रा यच्छ॥२५॥

गत मन्त्र में कन्या को ऐसे घर में विवाहित करने का प्रसङ्ग था जहाँ यज्ञादि का लोप न हुआ हो। उस घर में कन्या के पहुँचने पर पति कहता है कि–१. **त्वा**=मैं तुझसे अपना यह सम्बन्ध **हृदे**=हृदय के लिए करता हूँ। मेरे जीवन में तेरे प्रवेश से कुछ रस व कोमलता का सञ्चार होगा, कुछ श्रद्धा की भावना बढ़ेगी। २. **त्वा**=तुझे मैं अपने जीवन का साथी बना रहा हूँ **मनसे**=मन के लिए। मेरे जीवन में कुछ विचार-शक्ति बढ़े। मैं सब कामों को सोच-विचार कर करनेवाला बनूँ। ३. **दिवे त्वा**=मैं तुझे स्वर्ग-निर्माण के लिए अपना रहा हूँ। 'तेरे आने से मेरा घर स्वर्ग बन जाए' ऐसी मेरी कामना है। ४. **सूर्याय त्वा**=तुझे सूर्य के लिए अपना रहा हूँ। तेरे आने से इस घर में प्रकाश की वृद्धि हो और सूर्य के समान निरन्तर क्रियाशीलता हो। ५. **इमं अध्वरम्**=सबका कल्याण करनेवाले इस यज्ञ को तूने **ऊर्ध्वम्**=सबसे ऊपर स्थापित करना, अर्थात् यज्ञ इस घर का मुख्य कर्तव्य हो। **दिवि**=(निमित्त सप्तमी) स्वर्ग के निमित्त तथा **देवेषु**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के निमित्त **होत्राः**=हवियों को **यच्छ**=दे, अर्थात् तू नियमित रूप से यज्ञ करनेवाली हो। वस्तुतः इस यज्ञ से ही घर स्वर्ग बनेगा और घर के सब लोगों में दिव्य गुणों का विकास होगा (होत्राभिः हवनक्रियाभिः ऋ. ७।६०।९–द०)। मन्त्र के अन्तिम भाग का अर्थ इस रूप में भी हो सकता है कि (क) **दिवि**=स्वर्ग के निमित्त **होत्रा यच्छ**=हवियों को दे। **'स्वर्गकामो यजेत'** यह उक्ति प्रसिद्ध ही है। यज्ञों का फल स्वर्ग-प्राप्ति है। यज्ञ को ब्राह्मणग्रन्थों में **'स्वर्ग्या नौः'**=स्वर्ग प्राप्त करनेवाली नाव कहा है। (ख) **देवेषु**=विद्वानों के चरणों में बैठकर **होत्राः**=ज्ञान की वाणियों को **यच्छ**=(निबध्नीहि) अपने में बाँध, अर्थात् विद्वानों के समीप रहकर तू अपने ज्ञान को बढ़ा। इस प्रकार यज्ञों से घर स्वर्ग बनेगा तो ज्ञान से उसमें निरन्तर पवित्रता बनी रहेगी।

भावार्थ–पत्नी-पति के जीवन में 'श्रद्धा, मननशक्ति, प्रकाश व नियमितता' को बढ़ानेवाली हो। वह घर में यज्ञों को प्रमुख स्थान दे। यज्ञों में जहाँ हवियों को डाले वहाँ

विद्वानों से ज्ञान को प्राप्त करनेवाली हो।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—सोमः। **छन्दः**—भुरिग्गायत्री [क], आर्षीत्रिष्टुप् [ख]। **स्वरः**—षड्जः [क], धैवतः [ख]॥

राजा

[क]सोम॑ राजन्वि॒श्वास्त्वं प्र॒जाऽउ॒पाव॑रोह॒ विश्वा॒स्त्वां प्र॒जाऽउ॒पाव॑रोहन्तु।
[ख]शृ॒णोत्व॒ग्निः स॒मिधा॒ हव॑ं मे शृ॒ण्वन्त्वापो॑ धि॒षणा॑श्च दे॒वीः।
श्रोता॑ ग्रावाणो वि॒दुषो॒ न य॒ज्ञꣳशृ॒णोतु॑ दे॒वः स॑वि॒ता हव॑ं मे॒ स्वाहा॑॥२६॥

प्रजाओं को उत्तम बनाने में सबसे अधिक भाग राजा का है, अतः 'राजा कैसा हो' इस विषय का वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं कि १. हे **सोम राजन्**=सौम्य निरभिमानिन् राजन्! **त्वम्**=तू **विश्वाः प्रजाः**=सब प्रजाओं के **उप अवरोह**=समीप प्राप्त हो और **विश्वाः प्रजाः**=सब प्रजाएँ **त्वाम् उप अवरोहन्तु**=तेरे समीप प्राप्त हों। राजा प्रजाओं के लिए अधृष्य ही न बन जाए, वह उनके लिए अभिगम्य भी हो। जो राजा प्रजाओं के लिए अभिगम्य न होगा, वह प्रजाओं की स्थिति को कभी ठीक-ठीक न समझ सकेगा। २. राजा प्रार्थना करता है कि राष्ट्र में **अग्निः**=ज्ञान का प्रकाश देनेवाला 'ब्राह्मण' **समिधा**=ज्ञान-दीप्ति के हेतु से **मे हवम्**=मेरी पुकार को **शृणोतु**=सुने, अर्थात् जब-जब मैं इन ब्राह्मणों को आमन्त्रित करूँ तब-तब ये अवश्य मुझे दर्शन देने की कृपा करें और मुझे आवश्यक ज्ञान देकर मेरे अज्ञानान्धकार को दूर करें। ४. **आपः**=राष्ट्र के आप्त पुरुष तथा प्रजाएँ **धिषणाः च**=जो बुद्धि के ही मूर्त्तरूप हैं तथा **देवीः**=दिव्य गुणोंवाले हैं, वे भी **शृण्वन्तु**=मेरे आमन्त्रण को स्वीकार करें। इन व्यक्तियों को जब कभी मैं मन्त्रणा आदि के लिए कहूँ तो वे इसे अस्वीकार न करें। ५. **ग्रावाणः श्रोत**=हे सद्-असद् का विवेक करनेवाले सभासदो! (विद्वांसो हि ग्रावाणः—श० ३।९।३।१४) तुम भी मेरी बात को सुनो। **न**=जैसे **विदुषः**=विद्वान् से **यज्ञम्**=यज्ञ को सुनते हैं इसी प्रकार मैं तुमसे राष्ट्रहित के लिए आवश्यक बातों को सुननेवाला होऊँ। ६. सबसे बड़ी बात तो यह है कि **सविता देवः**=वह सबका प्रेरक देव प्रभु **मे हवम्**=मेरी प्रार्थना को **शृणोतु**=सुने। मैं भी **स्वाहा**=उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—राजा को निरभिमानी होना चाहिए। वह प्रजाओं के लिए अभिगम्य हो। ब्राह्मण उसे ज्ञान दें। आप्त बुद्धिमान् सत्पुरुष उसे राष्ट्रकार्य में सहायता करें। विवेकी पुरुषों से वह उसी प्रकार ज्ञान प्राप्त करे जैसेकि वह विद्वानों से यज्ञ के विषय में सुनता है। प्रभु का यह उपासक हो।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

कर (tax)

देवी॑रापोऽअपान्नपा॒द्यो व॑ऽऊ॒र्मिर्ह॑वि॒ष्यऽइ॒न्द्रिया॑वान् म॒दिन्त॑मः।
तं दे॒वेभ्यो॑ देव॒त्रा द॑त्त शु॒क्रपे॑भ्यो॒ येषा॑ भा॒ग स्थ स्वाहा॑॥२७॥

गत मन्त्र में राजा का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में राजदेय कर का उल्लेख करते हैं। १. हे **देवीः**=दिव्य गुणोंवाली **आपः**=प्रजाओ! **यो वः**=जो तुम्हारा **हविष्यः**=(हविर्भ्यो हितः, हु=दान) कररूप में देने के लिए रक्खा हुआ भाग है **तम्**=उसे **देवेभ्यः**=दिव्य गुणोंवाले—विलासशून्य जीवनोंवाले **शुक्रपेभ्यः**=वीर्य का पान (रक्षण) करनेवाले जितेन्द्रिय राजाओं के लिए **देवत्रा**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के निमित्त **दत्त**=दे डालो, उन राजाओं को

दे डालो **येषाम्**=जिनके तुम **भाग स्थ**=(भाजः) सेवा के योग्य हो, सेवनीय हो। **स्वाहा**=जो राजा तुम्हारी सेवा के लिए अपनी आहुति दे डालता है, अपने स्वार्थों को छोड़कर, अपने आराम को त्यागकर, जो तुम्हारी उन्नति में ही दिन-रात लगा रहता है। तुम सोये हो, तब भी वह 'जागृवि' है।

इस मन्त्रभाग में यह बात स्पष्ट है कि (क) राजा को दिव्य गुणोंवाला, सब विलासों से ऊपर (देव) जितेन्द्रिय (शुक्रप) तथा प्रजा-सेवक (भाग) होना चाहिए। प्रजा की सेवा के लिए वह अपने सभी स्वार्थों को छोड़ दे। (ख) प्रजाओं को भी दिव्य व आप्त (विश्वास के योग्य) बनने का प्रयत्न करना। (ग) प्रजा राजा को कर दे, क्योंकि इस कर-प्राप्त धन से ही राष्ट्र की सब सुव्यवस्था सम्भव होगी और प्रजाओं में शिक्षा के द्वारा ही अधिकाधिक उत्तम गुणों को उपजाया जा सकेगा।

२. यह 'कर' **अपान्नपात्**=प्रजाओं का न पतन होने देनेवाला है। इस प्रकार कर को ठीक प्रकार से देनेवाली प्रजाओं में विलास की वृत्तियाँ उत्पन्न नहीं होतीं, क्योंकि उनके पास उन विलासों के लिए अतिरिक्त धन रह ही नहीं जाता। ३. **ऊर्मिः**=यह 'कर' लहर के समान है। लहर समुद्र में उठती है फिर समुद्र में ही जा गिरती है। इसी प्रकार यह कर प्रजा से उठता है और फिर उसी प्रजा में जा गिरता है। प्रजा से प्राप्त करके प्रजाहित के लिए इस धन का व्यय कर दिया जाता है। इस 'कर' से राजा को अपने ही अन्तःपुरों (महलों) की रचना नहीं करनी चाहिए। ४. **इन्द्रियावान्**=इस कर ने प्रजाओं को (इन्द्रियं वै वीर्यम्) शक्तिशाली बनाना है अथवा प्रशस्त इन्द्रियोंवाला बनाना है। ५. **मदिन्तमः**=यह कर प्रजाओं को आनन्द देनेवाला है। इस 'कर' के द्वारा सुन्दर वनों, उपवनों, तालाबों और नहरों आदि का निर्माण होकर प्रजा का जीवन सच्चा हर्ष व आनन्द प्राप्त करता है। प्रजाओं के लिए उत्तमोत्तम आमोद-प्रमोद के साधनों को यह 'कर' प्राप्त कराता है।

भावार्थ—कर का उद्देश्य है कि (क) ऐसी व्यवस्था की जाए कि प्रजाओं का पतन न हो। (ख) वह प्रजाहित के लिए ही विनियुक्त हो। (ग) प्रजाओं को प्रशस्तेन्द्रिय व शक्तिशाली बनाये। (घ) प्रजाओं के लिए उत्तम आमोद-प्रमोद के साधनों को भी जुटाये।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—प्रजा। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

वैश्यवर्ण व कृषि

कार्षिरसि समुद्रस्य त्वा क्षित्याऽउन्नयामि।
समापोऽअद्भिरग्मत समोषधीभिरोषधीः॥ २८॥

राष्ट्र की उन्नति के प्रसङ्ग में वैश्यवर्ण का उल्लेख करते हैं। वस्तुतः गत मन्त्र में वर्णित 'कर' इन्हें ही देना है। १. **कार्षिः असि**=तू कृषि करानेवाला है। राष्ट्र में **'कृषिगोरक्ष-वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्'**=कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं। वैश्यों ने शूद्रों=अपठित व्यक्तियों के द्वारा इन कृषि आदि कर्मों को कराना है। २. सर्वोत्तम कृषि उस मेघ-जल द्वारा होती है जो मेघ **'यज्ञात् भवति पर्जन्यः'**=यज्ञ से निर्मित होता है। राष्ट्र में यज्ञों की व्यवस्था ठीक होने पर बादल ठीक समय पर वर्षा करनेवाले होते हैं (**निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु**)। इन यज्ञों की व्यवस्था राजा को ही करनी है। यज्ञ न करनेवाले को राजा ने चोर के रूप में दण्ड देना है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **समुद्रस्य**=अन्तरिक्षस्थ मेघ की **क्षित्या**=खेती से **त्वा**=तुझे **उन्नयामि**=उन्नत करता हूँ। भाषा में ऐसा ही बोलने का प्रकार है कि 'यह कूएँ की खेती खड़ी है' अर्थात् कूएँ के जल

से उत्पन्न। इसी प्रकार यहाँ कहा है कि 'समुद्र की खेती से' अर्थात् (समुद्रः=अन्तरिक्षस्थ मेघ) मेघजल से उत्पन्न खेती से। ३. **आपः**=जल **अद्भिः**=जलों से **सम्**=सङ्गत हों और **ओषधीः**=ओषधियाँ **ओषधीभिः**=ओषधियों से **सम्**= सङ्गत हों, अर्थात् अवृष्टि के कारण जलों का विच्छेद न हो जाए और परिणामतः ओषधियों की उत्पत्ति में रुकावट न हो।

भावार्थ—राष्ट्र में वैश्यवर्ण कृषि के कार्य में किसी प्रकार का शैथिल्य न आने दें। यज्ञों के परिणामरूप वृष्टि समय-समय पर होती रहे, जिससे ओषधियों व अन्नों की उत्पत्ति में कमी न आ जाए।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

युद्ध के समय भी वैश्यवर्ग की कृषि आदि में व्यापृतता

यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यं जुनाः। स यन्ता शश्वतीरिषः स्वाहा॥२९॥

पिछले मन्त्र की समाप्ति 'समोषधीभिरोषधीः' पर हुई थी कि ओषधियाँ ओषधियों से सङ्गत हों, अर्थात् ओषधियों की कमी न हो जाए। उसी प्रकरण को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि राजा का कर्त्तव्य है कि संग्रामों के समय भी वैश्यवर्ग को पीड़ित न होने दे और ऐसी व्यवस्था करे कि उस समय भी ये अपने कृषि आदि कार्यों में लगे रह सकें। यदि युद्धों के आधिक्य के कारण वैश्य युवकों का भी सेना में प्रवेश वाच्छनीय हुआ तब कृषि आदि कार्य कैसे हो सकेंगे, अतः कहते हैं कि **अग्ने**=राष्ट्र का नेतृत्व करनेवाले राजन्! आप **यं मर्त्यम्**=जिस मनुष्य को **पृत्सु**=संग्रामों में **अवाः**=सुरक्षित रखते हो और **यम्**=जिसे **वाजेषु**=(अन्ननिमित्त-क्षेत्रादिषु—द०) अन्न आदि पदार्थों की सिद्धि करने के निमित्त (क्षेत्रादि) में **जुनाः**=(गमयेः—द०) नियुक्त करते हो **सः**=वह **शश्वतीः**=नष्ट न होनेवाले **इषः**=अन्नों को **यन्ता**=प्राप्त करता है, इसप्रकार उस राजा के राष्ट्र में अन्नों की कमी नहीं आती। **स्वाहा**=यह बात (सु+आह) वेद में उत्तमता से कही गई है।

भावार्थ—राजा ऐसी व्यवस्था करे कि युद्ध के समय भी खेती आदि कार्य निर्बाधरूप से चलते रहें।

सूचना—अध्यात्म प्रकरण में अर्थ यह होगा—हे **अग्ने**=उन्नति साधक प्रभो! **पृत्सु**=काम-क्रोधादि से संग्रामों में **यं मर्त्यम्**=जिस मनुष्य की **अवाः**=आप रक्षा करते हो और **यम्**=जिसको **जुनाः**=प्रेरणा प्राप्त कराते हो **सः**=वह **शश्वतीः**=क्रियामय अथवा सनातन **इषः**=प्रेरणाओं को **यन्ता**=प्राप्त होता है, अर्थात् हृदयस्थ आपकी प्रेरणाओं को सुनता है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—स्वराडार्षीपङ्क्तिः[क], निचृदार्ष्यनुष्टुप्[ख]। **स्वरः**—पञ्चमः, गान्धारः॥

राज्य की दृढ़ता

[क]देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। आददे रावासि गभीरमिममध्वरं कृधीन्द्राय सुषूतमम्। [ख]उत्तमेन पविनोर्जस्वन्तं मधुमन्तं पयस्वन्तं निग्राभ्या स्थ देवश्रुतस्तर्पयत मा॥३०॥

राजा प्रजा से कहता है कि १. मैं **त्वा**=तुझे **सवितुः देवस्य**=प्रेरक प्रभु की **प्रसवे**=अनुज्ञा में **आददे** =स्वीकार करता हूँ। प्रभु ने वेदवाणी में जिस प्रकार राजा के लिए लिखा है कि **'विशो मे अङ्गानि सर्वतः'**=प्रजाएँ मेरे सब ओर होनेवाले अङ्ग हैं, अतः मुझे प्रजाएँ अपने अङ्गों की भाँति प्रिय हैं। २. **अश्विनोर्बाहुभ्याम्**=सूर्य और चन्द्रमा के प्रयत्नों से मैं प्रजाओं का स्वीकार करता हूँ। सूर्य जिस प्रकार अन्धकार को दूर कर देता है उसी प्रकार

मैं राष्ट्र में शिक्षा की उत्तम व्यवस्था से अविद्यान्धकार को दूर करने का प्रयत्न करता हूँ। जिस प्रकार चन्द्र आह्लाद का कारण होता है (चदि आह्लादे) उसी प्रकार मैं क्रीड़ा व स्नान के लिए तालाब व उद्यानादि की उत्तम व्यवस्थाओं से प्रजा की प्रसन्नता का कारण बनता हूँ। ३. **पूष्णः हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से मैं तेरा ग्रहण करता हूँ, अर्थात् प्रत्येक कार्य में मेरा उद्देश्य प्रजा का पोषण ही होता है। ४. **रावा असि**=हे प्रजे! तू मुझे खूब कर देनेवाली है। प्रसन्नतापूर्वक कर देकर तू **इमम्**=इस **अध्वरम्**=राष्ट्रयज्ञ को **गभीरम्**=खूब गहरा **कृधि**=कर दे—इसकी नींवें बड़ी गहरी हों। यह दृढ़ नींव पर स्थित हो। ५. **इन्द्राय**=राष्ट्र के अध्यक्ष के लिए अथवा राष्ट्र की जितेन्द्रिय प्रजाओं के लिए **सुषूतमम्**=(सुष्ठु सूते) राष्ट्र को उत्तमोत्तम पदार्थों को उत्पन्न करनेवाला बनाओ। ६. **उत्तमेन**=अत्यन्त उत्कृष्ट **पविना**=वज्र से, शस्त्रास्त्रों से **ऊर्जस्वन्तम्**=इस राष्ट्र को सबल बनाओ। **मधुमन्तम्**=यह राष्ट्र माधुर्यवाला हो। बल के साथ ही माधुर्य का निवास होता है, निर्बलता के साथ चिड़चिड़ेपन का। **पयस्वन्तम्**=तुम इस राष्ट्र को पयस्वाला बनाओ। प्रजा के आप्यायन के लिए सब आवश्यक वस्तुएँ इस राष्ट्र में हों। ७. राजा कहता है कि **निग्राभ्याः स्थ**=हे प्रजाओ! तुम नियन्त्रण में रखने योग्य होओ। तुम्हारा जीवन राष्ट्र के नियमों का पालन करने के झुकाववाला हो। **देवश्रुतः**=तुम विद्वानों से उत्तम ज्ञान की चर्चाओं को सुननेवाले बनो। ऐसे बनकर **मा तर्पयत**=मुझे प्रीणित करो। मैं तुम्हारी स्थिति को देखकर अपने में एक आनन्द का अनुभव करूँ। जैसे पिता पुत्र की उत्तम स्थिति को देखकर प्रसन्न होता है, उसी प्रकार मैं प्रजा की उन्नति से तृप्ति का अनुभव करूँ।

भावार्थ—राजा वेदानुकूल प्रजाओं का शासन करे। प्रजा उचित 'कर' देकर राष्ट्र की नींव को दृढ़ करे। राष्ट्र अन्य उन्नतियों के साथ शत्रु के आक्रमण से सुरक्षा के लिए उत्तम शस्त्रों से सुसज्जित हो। राष्ट्र में माधुर्य हो, आप्यायन हो। प्रजाएँ नियन्त्रित जीवनवाली व ज्ञान की रुचिवाली हों।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—प्रजासभ्यराजानः। **छन्दः**—ब्राह्म्युष्णिक्[क], आर्ष्युणिक्[ख]। **स्वरः**—ऋषभः॥

राजा सभ्यों से

[क]मनो मे तर्पयत वाचं मे तर्पयत प्राणं मे तर्पयत चक्षुर्मे मे तर्पयत श्रोत्रं मे तर्पयतात्मानं मे तर्पयत [ख]प्रजां मे तर्पयत पशून्मे तर्पयत गणान्मे तर्पयत गणा मे मा वितृषन्॥ ३१॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में राजा सभ्यों से कहता है कि हे सभा और समिति के सदस्यो! तुम इस प्रकार राष्ट्र का विधान व राष्ट्र की व्यवस्था करो कि **मे मनः तर्पयत**=मेरे मन को तृप्त करो। मैं मन में आनन्द का अनुभव करूँ। **वाचं मे तर्पयत**=मेरी वाणी को तृप्त करो। मेरी वाणी से ऐसे ही शब्द निकलें कि यह विधान ठीक बना है और यह व्यवस्था ठीक हुई है। **प्राणं मे तर्पयत**=मेरे प्राणों को तृप्त करो। मुझे जीवन में सन्तोष का अनुभव हो। **चक्षुर्मे तर्पयत**=राष्ट्र में चतुर्दिक् उन्नति को देखकर मेरी आँखें तृप्ति का अनुभव करें। **श्रोत्रं मे तर्पयत**=देश-विदेश में सर्वत्र राष्ट्र की प्रशंसा सुनकर मेरे कान तृप्त हों। **आत्मानं मे तर्पयत**=इस राष्ट्रोन्नति से मैं अन्दर-ही-अन्दर आत्मा में सन्तोष मानूँ। २. परन्तु इससे भी बढ़कर बात तो यह है कि तुम्हारा विधान व व्यवस्था ऐसी हो कि उससे तुम **मे प्रजां तर्पयत**=मेरी सारी प्रजा को प्रीणित करनेवाले बनो, प्रजा में सन्तोष हो। प्रजा उन्नतिपथ पर आगे बढ़े। ३. **पशून् मे तर्पयत**=राष्ट्र के पशुओं को भी तुम प्रीणित करो। तुम्हारी व्यवस्था से गौ इत्यादि उपकारी पशुओं का भी यहाँ खूब आप्यायन हो। ४. **गणान् मे तर्पयत**=अपनी

व्यवस्था से मेरे सैनिकगणों को भी तृप्त करो। **मे गणाः**=मेरे ये सैन्यगण **मा वितृषन्**=प्यासे ही न रह जाएँ। इनके वेतनादि की व्यवस्था बड़ी ठीक हो। अन्यथा राष्ट्र की रक्षा सम्भव न होगी। इन्हें ही समय पर राष्ट्ररक्षा के लिए अपने प्राण देने हैं।

भावार्थ—राज्य सभाधिकारी जहाँ अपनी व्यवस्था व विधान से राष्ट्रपति को प्रीणित करनेवाले हों, वहाँ उनका ध्येय (क) प्रजा की उन्नति, (ख) पशुओं का विकास व (ग) सैनिकों को भी उन्नत व सन्तुष्ट करना हो।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—सभापती राजा। **छन्दः**—पञ्चपाज्ज्योतिष्मतीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

राष्ट्रपति का चुनाव क्यों? अथवा राष्ट्रपति के गुण

इन्द्रा॑य त्वा॒ वसु॑मते रु॒द्रव॑त॒ऽइन्द्रा॑य त्वादि॒त्यव॑त॒ऽइन्द्रा॑य त्वाभिमाति॒घ्ने।
श्ये॒नाय॑ त्वा सोम॒भृते॒ऽग्नये॑ त्वा रायस्पोष॒दे॥३२॥

प्रजाएँ राजा का वरण क्यों करती हैं? १. **इन्द्राय**=जितेन्द्रियता के लिए हम **त्वा**=(वृणुमः) तेरा वरण करती हैं। **वसुमते**=आप वसुमान् हो, इसलिए आपका वरण करती हैं। आप राष्ट्र में उत्तमोत्तम निवास के साधनों को जुटाते हो। **रुद्रवते**=रुद्रवान् होने के कारण हम आपका चुनाव करती हैं, (रुत्=ज्ञान द=देना) आप राष्ट्र में ज्ञान देनेवाले आचार्यों को नियुक्त करते हो। उनके द्वारा ज्ञान का विस्तार करते हो। २. **इन्द्राय त्वा**=जितेन्द्रियता के लिए हम आपका वरण करती हैं **आदित्यवते**='आप आदित्योंवाले हो' इसलिए हम आपको चुनती हैं। शिक्षणालयों में आपने ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञानी व गुणों का आदान करनेवाले पुरुषों को नियत किया है, अतः हम आपका वरण करती हैं। ३. **अभिमातिघ्ने**=शत्रुओं का विदारण करनेवाले **इन्द्राय**=आपके जितेन्द्रिय होने के कारण **त्वा**=हम आपका वरण करती हैं। ४. **श्येनाय**=आप (श्यै गतौ) निरन्तर क्रियाशील हैं, अतः **त्वा**=आपको हम वरती हैं। **सोमभृते**=इस क्रियाशीलता से ही आप अपने में सोम (वीर्य) का भरण करनेवाले हैं। क्रियाशीलता आपको विलास से बचाती है और आप अपने सोम की रक्षा करते हो। ५. **त्वा**=हम आपका वरण इसलिए करती हैं कि **अग्नये**=आप राष्ट्र को आगे और आगे ले-चलनेवाले हैं और **रायस्पोषदे**=उत्तम व्यवस्था से हमें धनों का पोषण प्राप्त करानेवाले हैं, अर्थात् आपके सु-शासन में राष्ट्र में मार्गादि सुरक्षित हैं और व्यापार की सब सुविधाएँ होने से प्रजाओं की धन-वृद्धि होती है।

भावार्थ—राष्ट्रपति जितेन्द्रिय हो। राष्ट्र में निवास के उत्तम साधनों को जुटाए। योग्य अध्यापक व ऊँचे ज्ञानी पुरुष राष्ट्र में से अविद्यान्धकार को दूर करें। शत्रुओं के आक्रमण से राष्ट्र सुरक्षित हो। राष्ट्रपति क्रियाशील व संयमी हो। वह राष्ट्र को उन्नति-पथ पर ले-चले और राष्ट्र की सम्पत्ति को बढ़ाने की व्यवस्था करे।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—सोमः। **छन्दः**—भुरिगार्षीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

राष्ट्रपति क्या करे?

यत्ते॑ सोम दि॒वि ज्योति॒र्यत्पृ॑थि॒व्यां यदु॒रावन्तरि॑क्षे।
तेना॒स्मै यज॑मानायो॒रु रा॒ये कृ॑धि॒ दात्रे॑ वोचः॥३३॥

१. हे **सोम**=विनीत राजन्! **ते**=तेरे **दिवि**=मस्तिष्क में **यत्**=जो **ज्योतिः**=प्रकाश है **यत्**=जो **पृथिव्याम्**=शरीर में **ज्योतिः**=स्वास्थ्य का प्रकाश है और **यत्**=जो **उरौ**=इस विशाल

अन्तरिक्षे =हृदाकाश में **ज्योतिः**=प्रकाश है **तेन**=उससे अर्थात् मस्तिष्क, हृदय व शरीर (Head, Heart and Hand) तीनों की शक्तियों से—प्राणपण से—**अस्यै**=इस **यजमानाय**=यज्ञ के स्वभाववाले प्रजावर्ग के लिए **राये**=धन-प्राप्ति के लिए **उरु कृधि**=अत्युत्तम व्यवस्था कर। तेरे राष्ट्र में जो आर्यपुरुष हैं—यज्ञादि उत्तम कार्यों को करनेवाले लोग हैं, उनके लिए तू ऐसी व्यवस्था कर कि वे जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक धनों को अवश्य कमा सकें। २. और जो यजमानों से विपरीत घात-पात आदि के कार्यों में लगे हुए हैं उन **दात्रे**=(दाप् लवने) काट-छाँट करनेवालों के लिए **अधिवोचः**=आधिक्येन उपदेश दे। ज्ञानी पुरुष ऐसे लोगों के अन्दर प्रचार-कार्य करके उनके जीवनों को अच्छा बनाने का प्रयत्न करें। अथर्व के मन्त्र **'अग्निः पूर्व आरभताम्'** के अनुसार ब्राह्मण पहले अपने कार्य को प्रारम्भ करें। वे ऐसे लोगों को ज्ञान देने का उपक्रम करें। यदि इस ज्ञान-प्रचार के कार्य का अनुकूल प्रभाव न हो तो विवशता में **'प्रेन्द्रो नुदतु बाहुमान्'**=शक्तिशाली इन्द्र को उन्हें दण्ड देना ही है, परन्तु दण्ड से ही प्रारम्भ न कर दिया जाए। पहले ज्ञान-प्रचार का कार्य, पीछे दण्ड। ३. इसप्रकार स्पष्ट है कि राष्ट्र में दो पुरुष हैं (क) यजमान (ख) दात्र। यजमान ही आर्य है, दात्र ही दस्यु हैं। राजा ने आर्यों के लिए आवश्यक धन-प्राप्ति के साधनों को जुटाना है और दस्युओं को ज्ञान-प्रसार की व्यवस्था से आर्य बनाने का प्रयत्न करना है। विवशता में दण्ड देकर उन्हें घात-पात से रोकना तो होगा ही।

भावार्थ—राष्ट्रपति वा राजा पूर्ण प्रयत्न व सुव्यवस्था से राज्य में लोगों को धन-प्राप्ति के उचित साधन प्राप्त कराए और घात-पात की मनोवृत्तिवाले लोगों की मनोवृत्ति को बदलने के लिए उनमें खूब (अधि) ज्ञान का प्रचार कराए (वोचः)।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—स्वराडार्षीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

राजा व राजसभा के सभ्यों की 'पत्नियाँ'

श्वात्रा स्थ वृत्रतुरो राधोगूर्त्ताऽअमृतस्य पत्नीः।
ता देवीर्देवत्रेमं यज्ञं नयतोपहूताः सोमस्य पिबत॥३४॥

सभापति व राजसभा के लोग राष्ट्रहित के कार्यों में तभी अच्छी प्रकार लगे रह सकते हैं यदि उनकी पत्नियाँ उनके लिए अत्यन्त अनुकूलता उत्पन्न करें, अतः उन पत्नियों का वर्णन करते हैं—

१. **श्वात्राः स्थ**=तुम (श्वि गतिवृद्ध्योः, त्रा रक्षणे) क्रियाशीलता के द्वारा सदा वृद्धि को प्राप्त करनेवाली हो। इस क्रियाशीलता के द्वारा ही तुम वासनाओं के आक्रमण से अपना त्राण करनेवाली हो। २. **वृत्रतुरः**=ज्ञान को आवृत करनेवाले काम का तुम विध्वंस करती हो। ३. **राधोगूर्ताः**=(धनवर्धिन्यः—द०) धनों का तुम वर्धन करनेवाली हो (गुरी उद्यमने) तुम धन का अनुचित व्यय न होने देते हुए उसका संग्रह करती हो। ४. **अमृतस्य पत्नीः**=तुम न मरियल पतियों की पत्नी हो। तुम्हारे द्वारा घर में भोजन की व्यवस्था इतनी सुन्दर होती है कि कोई अस्वस्थ होता ही नहीं। तुम घर के उत्तम प्रबन्ध द्वारा पतियों को चिन्ताओं से मुक्त-सा रखती हो। परिणामतः उनका स्वास्थ्य अत्युत्तम रहता है। ५. **ताः देवीः**=वे दिव्य गुणोंवाली तुम **देवत्रा**=देवों में **इमं यज्ञं नयत**=इस यज्ञ को प्राप्त कराओ, अर्थात् सदा यज्ञ करनेवाली बनो। 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इस 'व्याकरण-सूत्र' से पत्नी का मुख्यकार्य यज्ञ ही प्रतीत होता है। ६. **उपहूताः**=**'उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान् वाचस्पतिर्ह्वयताम्'**

इस अथर्व-वाक्य के अनुसार तुम आचार्यों के समीप उपहूत होनेवाली होओ, अर्थात् आचार्यकुल में रहकर तुमने विद्याध्ययन किया हो और **सोमस्य पिबत**=सोम का पान किया हो, अर्थात् संयमपूर्वक अपनी शक्ति की रक्षा की हो। वस्तुतः पत्नियों के उल्लिखित गुणों से सम्पन्न होने पर ही सभापति व सभादि अपने-अपने कार्यों को निश्चिन्तता से अच्छी प्रकार कर सकते हैं।

भावार्थ—पत्नी अपने उत्तम व्यवहार से पति को प्रसन्न व निश्चिन्त रक्खेंगी तो पति अपने कार्यों को उत्तमता से कर पाएँगे।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पति-पत्नी

मा भेर्मा संविक्थाऽऊर्जं धत्स्व धिषणे वीड्वी सती वीडयेथामूर्जं दधाथाम्। पाप्मा हतो न सोमः॥३५॥

गत मन्त्र में पत्नी का कर्त्तव्य विशेषरूप से कहा गया। अब पति-पत्नी दोनों के लिए कुछ सामान्य बातें कहते हैं। १. **मा भेः**=तुम डरो नहीं। संसार में सबसे निकृष्ट वस्तु डर है। दैवी सम्पत्ति का प्रारम्भ 'अभयम्' से होता है। घर में यदि पत्नी पति से डरती है या पति पत्नी से तब तो उस घर में दैवी सम्पत्ति का प्रारम्भ ही कैसे हो सकता है? दोनों का परस्पर प्रेम हो, भय का वहाँ प्रश्न ही न हो। २. **मा संविक्थाः**=भय के कारण अपने धर्ममार्ग से विचलित न होओ। डर के कारण किसी कर्म को करना या किसी को छोड़ना उचित नहीं। आदर्श यही है कि स्तुति हो, निन्दा हो, सम्पत्ति आये, विपत्ति आये, जीवन हो या मृत्यु हो, हम अपने न्यायमार्ग पर ही चलते चलें, उससे विचलित न हों। ३. **ऊर्जं धत्स्व**=बल और प्राणशक्ति को धारण करो। शारीरिक शक्ति के साथ तुममें आत्मिक शक्ति भी हो। ४. **धिषणे**=(द्यावापृथिव्यौ) तुम द्यावापृथिवी के समान बनो (द्यौरहं पृथिवी त्वम्) पति द्युलोक के समान ज्ञानदीप्त हो और पत्नी अपनी शक्तियों के विस्तार से दृढ़ जीवनवाली हो। अथवा (धिषणा=बुद्धि) पति-पत्नी दोनों ही बुद्धि के पुञ्ज बनने का प्रयत्न करें। ५. **वीड्वी सती**=(वीड्वी बल—नि० २।९) खूब बलवाले होते हुए **वीडयेथाम्**= संसार में शक्तिशाली कर्मों के करनेवाले बनो। ६. यही मार्ग है जिस मार्ग पर चलने से **पाप्मा हतः**=पाप नष्ट होता है **न सोमः**=सोम नष्ट नहीं होता। सौम्य स्वभाववाला व्यक्ति सदा सुरक्षित रहता है। **ऊर्जं दधाथाम्**=इस सबके लिए तुम दोनों बल और प्राणशक्ति को धारण करो। ऊर्ज् के साथ ही पुण्य का निवास है, ऊर्ज् के अभाव में पाप-ही-पाप है।

भावार्थ—हम अभय हों, अविचल हों, बल और प्राणशक्ति को धारण करें। बुद्धिमान् बनें, शक्तिशाली कर्मों को करते हुए पाप को विनष्ट करें और सौम्य स्वभाव को विकसित करें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—सोमः। **छन्दः**—उष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

सर्वतो-धावन (शोधन)

प्रागपागुदगधराक्सर्वतस्त्वा दिशऽआधावन्तु। अम्ब निर्ष्पर समरीर्विदाम्॥३६॥

१. गत मन्त्र में निर्भयता आदि सद्गुणों के धारण का प्रसङ्ग था। उल्लिखित गुणोंवाले माता-पिता अपने सन्तानों के जीवन को सर्वतः शुद्ध बनाने का प्रयत्न करते हैं। **प्राक्**=पूर्व से **अपाक्**=पश्चिम से **उदक्**=उत्तर से तथा **अधराक्**=दक्षिण से **सर्वतः**=सब

ओर से, सब दिशाओं से **दिशः**=सदा उत्तम बातों का उपदेश देनेवाले माता-पिता व आचार्यादि **त्वा**=तुझे **आधावन्तु**=सर्वतः शुद्ध बना दें। (धावु गतिशुद्धयोः) गति के द्वारा वे तेरे जीवन को शुद्ध करनेवाले हों। २. सन्तान व शिष्य माता-पिता व आचार्य से कहती है कि **अम्ब**=(अमति प्रेमभावेन प्राप्नोति) अत्यन्त प्रेम से मुझे प्राप्त होनेवाली हे मातः! **निष्पर**=तू नितरां मेरा पालन कर। मेरी कमियों को दूर करके उनका पूरण करनेवाली हो। **अरीः**=(प्रजा वा अरीः-श० ३।९।४।२१) सब प्रजाएँ (ऋ गतौ) क्रियाशील सन्तानें- **संविदाम्**=(संविदताम्) संज्ञानवाली हों, परस्पर लड़नेवाली न हों। ३. मधुच्छन्दा ऋषि का यह अन्तिम मन्त्र है। उसकी सर्वोत्तम इच्छा यही है कि (क) बड़ों के उपदेशों से हमारे जीवन शुद्ध हों। (ख) प्रेमभाव से प्राप्त होनेवाली माता अपने उपदेशों से बच्चे के जीवन को बड़ा उत्तम बनाये। (ग) सब प्रजाएँ परस्पर मिलकर चलनेवाली-संज्ञानवाली हों।

भावार्थ-माता-पिता अपने सन्तानों का, आचार्य शिष्यों का तथा राजा प्रजा का सर्वतः शोधन करे, उन्हें बुराइयों से दूर करे, जिससे सब सन्तान परस्पर संज्ञानवाली हों।

ऋषिः-गोतमः। **देवता**-इन्द्रः। **छन्दः**-भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**-गान्धारः॥

महान् उपदेष्टा प्रभु

त्वमङ्ग प्रशंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम्।
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः॥३७॥

१. माता-पिता सन्तानों को उत्तम उपदेश देते हैं। पिछले मन्त्र में इसका वर्णन हुआ है। परन्तु अन्ततः उपदेश देनेवाले तो वे प्रभु ही हैं, अतः प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **शविष्ठ**=अतिशयेन शक्तिमन् प्रभो! **त्वम्**=आप **देवः**=ज्ञान की ज्योति से देदीप्यमान हो। इस ज्योति से आप औरों को दीप्त करनेवाले हो तथा सभी को आप ही इस ज्ञान को देनेवाले हो। आप **अङ्ग**=(क्षिप्रम्) शीघ्र ही **मर्त्यम्**=इस मृत्युधर्मा मनुष्य को **प्रशंसिषः** =प्रशंससि=प्रकृष्ट ज्ञान देते हैं (शंस् Science=विज्ञान)। २. इस ज्ञान को देकर आप मनुष्य का कल्याण करते हैं। हे **मघवन्**=ज्ञानैश्वर्य से समृद्ध प्रभो! **त्वदन्यः**=आपसे भिन्न कोई और **मर्डिता** =सुख देनेवाला **न**=नहीं **अस्ति**=है। हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! अतः मैं **ते**=तेरे लिए ही **वचः**= वचन **ब्रवीमि** =कहता हूँ, अर्थात् आपसे ही इस उत्कृष्ट ज्ञान को देने की प्रार्थना करता हूँ। ३. आपसे उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करके मैं प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'गोतम' बनूँ=अत्यन्त प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाला बनूँ। उन ज्ञानन्द्रियों से वेदवाणी का ग्रहण करनेवाला होऊँ। इस वाणी ने ही मुझे पवित्र करना है। पवित्र होकर ही मैं आपको प्राप्त कर सकूँगा और आनेवाले मन्त्र (७।१) के 'वाचस्पतये पवस्व' इस उपदेश को अपने जीवन में घटा सकूँगा।

भावार्थ-प्रभु ही सर्वमहान् उपदेष्टा हैं। वे ही हमारे जीवनों को सुखी करनेवाले हैं। हमें उन्हीं से ज्ञान-प्राप्ति की प्रार्थना करनी चाहिए।

॥ इति षष्ठोऽध्यायः सम्पूर्णः॥